रहता है। इसी लिये अहमर्थ में स्वाभाविक ही कर्तृत्व मान्य होता है। 'यथा च तक्षोभयथा' इस अधिकरण में अहमर्थानुगत चिन्मात्र की जो इदमंश से असम्वलित अवस्था है उसको लेकर आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व के निरास के लिये यह कहा गया है कि अहंकारादि उपाधि सम्बन्ध से ही अहमर्थ में स्वाभाविक कर्तृत्व है, शुद्ध आत्मस्वरूप को लेकर स्वाभाविक कर्तृत्व नहीं है, उपाधि तादात्म्याध्यास के कारण कर्तृत्वविशिष्ट अहंकार का अध्यास होने से औपाधिक ही कर्तृत्व है। निष्कर्ष यह है कि प्रथम सूत्र से त्वम्पदवाच्य में धर्मिसमसत्ताक होने से स्वाभाविक कर्तृत्व कहा गया है और दूसरे से त्वंपदलक्ष्यार्थ में अकर्तृत्व ही स्वाभाविक है, यह कहने के लिये औपाधिक कहा गया है। त्वंपदवाच्य का आरोपित कर्तृत्व ही उपपादन किया गया है। यही दोनों अधिकरणों का भेद है। कर्त्रधिकरण से अहमर्थ के कर्तृत्वादि को न अस्वाभाविक ही कहा जाता है न अपारमार्थिक ही। औपाधिक होने से अपारमार्थिकत्व प्रतिपादन भी उसका विषय नहीं है किन्तु 'यथा च तक्षोभयथा' इस न्याय का विषय है। कर्तृत्वमात्र भी उसका विषय नहीं है किन्तु धर्मिसमसत्ताक धर्मत्व ही कर्तृत्वादि में साधन करना इष्ट है। अतः 'यथा च तक्षोभयथा' इस अधिकरण का विरोध नहीं और पौनरुक्त्य संशयाभाव आदि कुछ भी नहीं होगा। 'यथा च तक्षोभयथा' इस सूत्र से बुद्धि उपाधि द्वारा आत्मा में औपाधिक कर्तृत्व कहा गया है। जैसे, तक्षा वासी आदि ग्रहण करके छेत्ता होता है उसके बिना छेत्ता नहीं होता, उसी तरह बुद्धि उपाधि को लेकर आत्मा में कर्तृत्व है स्वभाव से नहीं। यह कथन जीवात्मा के ही सम्बन्ध में है ईश्वर के सम्बन्ध में नहीं। कर्तृत्वविशिष्ट बुद्धि के तादात्म्य से जीवात्मा में बुद्धि उपाधि से कर्तृत्व होता है। कर्तृत्वविशिष्ट बुद्धितादात्म्याध्यास कर्तृत्वविशिष्ट बुद्धि के उपादानभूत अविद्यातादात्म्याध्यास के कारण अनादि है; इसी कारण जीवत्व भी अनादि है। बुद्धि की अनादिता भी प्रवाहसिद्ध है, अविद्यादि के समान बुद्धि की अनादिता स्वाभाविक नहीं है। इस दृष्टि से बुद्धिरूप महत्तत्त्व के लय होने से भी कोई हानि नहीं होती। प्रवाहरूप से अनादि होने पर भी 'बीजांकुर न्याय' से परस्पराश्रयता दूषण नहीं भूषण है। 'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' इत्यादि श्रुतियाँ त्वंपद वाच्य अहमर्थ में कर्तृत्वादि के धर्मिसमसत्ताक होने में ही प्रमाण हैं। वृत्ति, ज्ञान, कृति आदि मन के धर्म हैं। इसमें 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव' यह श्रुति प्रमाण है। अतएव गीता में भी कहा गया है—

"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥"

प्रकृति के कार्यकारण रूप से परिणत गुणों के द्वारा क्रियमाण कर्मों में अहंकार विमूढ़ात्मा होकर अर्थात् कार्य-कारण संघात में आत्म प्रत्ययरूप अहङ्कार से विमूढ़ात्मा होकर प्राणी मैं कर्ता हूँ ऐसा मानता है। परन्तु—

"तत्त्ववित्तु महाबाहो गुण कर्म विभागशः।
गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते॥"

के अनुसार गुण कर्म विभाग का तत्त्ववित् इन्द्रियरूप से परिणत गुण ही तत्तद्विषयरूप गुणों में प्रवृत्त होते हैं यह जानकर उनमें आसक्त नहीं होता।

"तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥"

अधिष्ठानादि मिलकर ही कोई कार्य करते हैं अतः जो केवल आत्मा को ही कर्ता मानता है वह असंस्कृत बुद्धि होने के कारण अज्ञानी है, दुर्मति है।

"यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥"

जिसको अहङ्कार नहीं है, अनात्मा में आत्मभ्रान्ति नहीं है, जिसकी बुद्धि कर्तृत्व के अभिमान से लिप्त नहीं होती, वह इन सभी लोकों का हनन करके भी न हन्ता होता है और न लिप्त होता है, इत्यादि गीता वचनों से आत्मा में स्वतःकर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि का निषेध ही सिद्ध होता है।

"नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

गुणों से अन्य कोई कर्ता नहीं है, जब द्रष्टा यह समझता है और आत्मा को गुणों से परे साक्षिभूत जानता है तब वह मुझ वासुदेव को प्राप्त होता है।

"प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानं कर्तारं स न पश्यति॥"

जो कर्मों को प्रकृति के द्वारा क्रियमाण तथा आत्मा को अकर्ता समझता है वही बुद्धिमान् है।

ईश्वर में भी कर्तृत्वादि मायिक ही हैं वास्तविक नहीं हैं—

"त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान् विभो,
वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात् ।
त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो निरुद्ध्यते,
त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैः ॥"

स्तुति के प्रसंग से भक्त कहता है कि संसार की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, निर्गुण निर्विकार निरीह परमात्मा से कहा जाता है परन्तु यह आपके ईश्वररूप एवं ब्रह्मरूप के भेद से उपपन्न ही है। ब्रह्मरूप से आप निरीह निर्विकार होते हुए भी मायाविशिष्ट ईश्वररूप से आप में उत्पादकत्व पालकत्व आदि सब संभव हैं। 'अजायमानो बहुधा विजायते' का भी यही अभिप्राय है कि कूटस्थ नित्यरूप से भगवान् सदा निर्विकार रहते हुए भी माया के द्वारा आकाशादि प्रपञ्चरूप से जायमान होते हैं।

इसी तरह निम्नलिखित अनुमान भी इस बात को सिद्ध करते हैं।

"ज्ञातृत्व कर्तृत्वादिकं, नात्मधर्मः, विक्रियात्मकत्वात्, दृश्यत्वात्, दृश्यनिष्ठत्वात्, अहमर्थ समानाधिकरणतया प्रतीयमानत्वात्, संप्रतिपन्नवत्"।

ज्ञातृत्व कर्तृत्वादि आत्मधर्म नहीं हैं, विक्रियात्मक होने से, अथवा दृश्य होने से, ज्ञातृत्वादि दृश्यनिष्ठ हैं इसलिये वह आत्मधर्म नहीं है, अहमर्थ समानाकरणरूप से ज्ञातृत्व आदि प्रतीत होते हैं ; इसलिये भी वे आत्मधर्म नहीं हैं, सम्पन्न के समान। ज्ञातृत्वादि विकारि द्रव्यस्थ धर्म हैं यह भी इन्हीं हेतुओं से सिद्ध होता है।

विप्रतिपन्न अहं प्रत्यय आत्मगोचर नहीं है, अहं प्रत्यय होने से, देहात्म प्रत्यय के समान। इसी तरह आत्मा, ज्ञातृत्वादि धर्म रहित है, निर्विकार होने से, एवं अन्तःकरणादि व्यतिरिक्त होने से, अजड होने से, प्रत्यक् होने से, आत्मा होने से। आत्मा क्रिया का आश्रय होगा तो उसमें अनित्यता आदि अवश्य होगी। जो लोग धर्मभूत ज्ञान को नित्य एवं स्वतंत्र तत्व मानते हैं और उसे धर्मी से अपृथक् सिद्ध मानते हैं उनके यहाँ 'आत्मा ज्ञानम्' ऐसी प्रतीति होनी चाहिये 'अहं जानामि' ऐसी प्रतीति नहीं होनी चाहिये। अहमर्थ आत्मा हो तब तो सशरीर अहमर्थ में ही आत्मत्व पर्यवसित होगा। आत्मा ज्ञातृत्वादि विकार रहित है, निर्विकार होने से, अन्तःकरणरूप अहङ्कार से रहित होने से, धर्मभूत ज्ञान में

संकोचविकासशालित्व एवं नित्यत्व दोनों विरुद्ध होने से असंगत ही हैं। संकोचविकास यदि अवस्था है तो अवस्थावान् अनित्य ही होता है। यदि संकोचविकासवान् भी नित्यमान्य है तब तो अनेकान्तवादि जैनमत प्रवेश होगा। अवस्थाविशेष अवस्थावाले के साथ तादात्म्येन प्रतीत होता है। जैसे 'मृद्घटः' यहाँ वैसी प्रतीति नहीं होती। संकोचविकास विषयसंयोग विभागरूप ही होता है, वह क्रियारूप ही है। संयोग विभाग द्रव्याश्रित ही होते हैं अतः विकार ही हैं। विज्ञातृत्वबोधिका श्रुति भी आत्मा में औपाधिक ही विज्ञातृत्व कहती है।

निर्विकारत्व श्रुति के अनुरोध से ही यह व्यवस्था उचित है। निर्विकारत्व श्रुति उभयसम्मत होने से प्रबल है। अतः ज्ञातृत्व श्रुति को तदनुसार ही लगाना उचित है। कहा जाता है कि "ज्ञान के संकोचविकास होने से भी आत्मा में कोई विकार नहीं होता। क्योंकि संकोचविकास का आश्रय आत्मा नहीं है किन्तु ज्ञान ही है। निर्विकारत्व श्रुति आत्मा को ही निर्विकार कहती है। अतः निर्विकारत्व श्रुति से ज्ञातृत्वबोधक श्रुति का कोई विरोध नहीं है"। परन्तु यह भी ठीक नहीं। भले आत्मा उससे विकारी न हो परन्तु धर्मभूत ज्ञान तो विक्रियात्मक हुआ ही। यदि साक्षात् संकोचविकासशाली होने से धर्मभूत ज्ञान विक्रियात्मक है यह मान्य है, तब भी 'उपयन्नपयन् धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्' के अनुसार धर्मभूत ज्ञान के आने जाने से धर्मी में भी विकार अवश्य होगा ही।

कहा जाता है पूर्वोक्त अनुमानों में बाध दोष है। श्रुति नित्य ज्ञातृत्व का प्रतिपादन करती है, श्रुतिविरोध से अनुमान बाधित हो जाता है। परन्तु यह भी ठीक नहीं; क्योंकि यह कहा जा चुका कि ज्ञातृत्व श्रुति सोपाधिक आत्मा में ही ज्ञातृत्व बतलाती है। उससे शुद्ध आत्मा की निर्विकारता का अपनोदन ही होता है। इसी तरह यह भी कहा जाता है कि अनुमान के विक्रियात्मकत्व हेतु में विक्रिया का क्या अर्थ है। स्वरूपपरिणामरूप विक्रिया तो असिद्ध ही है। यदि क्रियायोग मात्र ही विक्रिया है तब तो अस्ति आदि क्रिया शुद्ध आत्मा के साथ अद्वैती को भी मान्य है, फिर अनैकान्तिक दोष होगा। परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि 'यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मल प्रक्षालनान्मणेः' इत्यादि शौनकादि वाक्यों द्वारा ज्ञान में स्वरूपपरिणामता रूप विक्रिया ही कही गयी है। संकोच-विकास रूप क्रियायोगी होने से क्रियायोग पक्ष भी धर्मभूत ज्ञान में मानना पड़ेगा; इस तरह धर्मभूत ज्ञान विक्रियात्मक ही मानना पड़ेगा। 'आत्मा अस्ति'

इत्यादि स्थलों में आत्मा का अस्तित्व आदि क्रियायोग कल्पित ही होता है। इसके अतिरिक्त 'अस्ति' क्रिया का अर्थ है सत्ता। वह कालसम्बन्धमात्र रूप है अतः वह स्वसम्बन्धोंमें विक्रिया नहीं उत्पन्न करता। 'आकाशोऽस्ति, परमात्मास्ति' इत्यादि स्थानों में उसका विकार अर्थ नहीं मान्य होता किन्तु उपचय, अपचय, उत्पत्ति, विनाशरूप क्रियायोग ही विक्रिया है। यह सब अनुभूति में अमान्य ही है अतः अनैकान्त्य दोष नहीं होगा। ज्ञातृत्वादिबोधक श्रुतियाँ न तो आत्मा की निर्विकारता को ही बाधित कर सकती हैं और न धर्मभूत ज्ञान की विक्रियात्मता को ही बाधित कर सकती हैं। चिन्मात्र दृश्य नहीं है किन्तु अहमर्थ तो दृश्य है, अहमर्थरूप द्रष्टा के दृश्य होने पर भी चिन्मात्र दृश्य नहीं होता। द्रष्टृत्व चिन्मात्र का धर्म नहीं है, यही अद्वैती को इष्ट है।

'अहमात्मा गुडाकेश' इत्यादि स्थलों में अहं पद का मुख्य आत्मा अर्थ लक्षणा से ही मान्य है। इस तरह—

"नाहं पीवान् न चैवोढ़ा शिविका भवतो मया।
न श्रान्तोऽस्मि न चायासो सोढव्योऽस्ति महीपते।"

मैं मोटा नहीं हूँ मैंने तुम्हारी शिविका नहीं उठायी न मैं थका हूँ न मुझे सहन करना है।

"पिण्डः पृथग्यतः पुंसः शिरः पाण्यादि लक्षणः।
ततोऽहमिति कुत्रैतां राजन् संज्ञां करोम्यहम्॥"

राजन्! शिर, कर, चरणादि शरीर आत्मा से भिन्न है अतः 'अहं' इस बुद्धि को किसमें समझें?

"शब्दोऽहमिति दोषाय नात्मन्येष तथैव तत्।
अनात्मन्यात्म विज्ञानं............... ॥"

आत्मा के सम्बन्ध में अहं शब्द का प्रयोग दोषावह नहीं है। अनात्मा में आत्मविज्ञान एवं अनात्मा में वैसा प्रयोग भ्रान्ति है, इत्यादि जड़ भरत प्रसंग में भी आत्मा में अहं पद का प्रयोग भ्रान्ति नहीं है यह ठीक है, परन्तु तभी वह भ्रान्ति नहीं है यदि अहमर्थ के साक्षिरूप शुद्ध आत्मा में लक्षणा से अहं शब्द का प्रयोग हो। यदि ज्ञातृत्वादि विशिष्ट अहमर्थ को ही आत्मा समझकर उसमें अहं पद का प्रयोग किया जाता है तब तो भ्रान्ति है ही। 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नादः' इत्यादि स्थलों में भी 'अहं मनुरभवं' के समान अहं पद लक्ष्यार्थ आत्मा

में लक्षणा से अहं शब्द का प्रयोग हुआ है। जीवात्मा परमात्मा का भोग्यरूप अन्न बने अथवा परमात्मा जीवात्मा का भोग्यरूप अन्न बने ऐसा अन्नअन्नाद भाव शुद्ध आत्मा में नहीं होता। शुद्ध आत्मा या भूमा में द्वैतनिषेध होता है, 'यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभून् तत्केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात्', 'यत्र नान्यच्छृणोति' इत्यादि से शुद्ध भूमात्म भाव प्राप्ति में सर्वद्वैतनिषेध ही श्रुत है। 'अहं प्रत्यय गम्यत्वात् स यूथ्या अपि केचन' इत्यादि उपवर्षाचार्य का मतोल्लेख पूर्व मीमांसा दृष्टि से ही उद्धृत किया गया है। अहमर्थ समानाधिकरण रूप से प्रतीयमानत्व भी चिन्मात्र में संभव नहीं है।

कहा जाता है "अहमात्मा गुडाकेश' इत्यादि वचन से अहं और आत्मा का अभेद कहा गया है। तथा च आत्मत्वहेतु अहमर्थ में प्रयुक्त होने से अनैकान्तिक हो गया। अहमर्थ में आत्मत्व है परन्तु ज्ञातृत्वादि रहितत्व नहीं है।" परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ आत्म शब्द स्वरूपपरक है। अथवा शुद्ध आत्मा में अहं पद का लक्षणा से ही प्रयोग है।

कहा जाता है 'यद्यपि आत्मा है' परन्तु आत्मत्व नाम की कोई चीज नहीं, फिर आत्मत्वहेतु कहाँ अनैकान्तिक होगा? परन्तु इस तरह तो यह भी कहा जा सकता है कि ज्ञाता नाम का कोई है परन्तु ज्ञातृत्व कुछ भी नहीं। पर यह ठीक नहीं; क्योंकि चिन्मात्र आत्मा ब्रह्म स्वरूप ही है। वह अविद्यानिवर्तक ज्ञान का विषय एवं त्रिकालाबाध्य है। तद्भिन्न सब कुछ मिथ्या है अतः आत्मत्व का मिथ्यात्व कहना संगत है, परन्तु उस प्रकार विज्ञातृत्व स्वरूप कल्पित धर्मिमात्र की सत्ता स्वीकृत नहीं हो सकती। ज्ञातृत्वादि चिन्मात्र आत्मा के धर्म नहीं हैं यही कहा जा सकता है। यह नहीं कहा जा सकता कि विज्ञाता आत्मा का ज्ञातृत्व धर्म कभी नहीं हो सकता। आत्मा स्वयं चिन्मात्र है यह पीछे सिद्ध किया है अतः अप्रसिद्ध विशेषणत्व दोष नहीं कहा जा सकता। 'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्' इत्यादि श्रुति से यही सिद्ध होता है कि आत्मा अधिष्ठानमात्र होनेसे निर्विकार है, वह शरीरादि के समान विकारी नहीं है। यदि आत्मा शरीरादि से संपृक्त होने से ही विकारी है यह मानकर सिद्धसाधन दोष देना है तो यह भी अद्वैती को इष्ट है। स्वरूपतः भी उपाधि द्वारा जो उत्पत्यादिमान होता है वही विकारी होता है। अन्तःकरण स्वरूपतः उत्पत्यादिमान है। अहमर्थ भी उपाधि द्वारा उत्पत्यादिमान होता है। चिन्मात्र ऐसा नहीं है इसलिये ज्ञातृत्वादिधर्माभावसाधन में बाध आदि नहीं है। वस्तुतः भ्रान्तिस्थल को छोड़कर कहीं भी आत्मा में अहं पद का प्रयोग नहीं होता। अहमर्थ भी

अध्यस्त स्वरूप है ही। अध्यस्त रूप चाहे प्रातिभासिक हो चाहे व्यावहारिक, वह अधिष्ठानमात्रविषयक ज्ञान में भासित नहीं होता, इसलिये अतिप्रसंग का कोई अवसर नहीं है।

कहा जाता है कि "जो अहमर्थ में ज्ञातृत्व मानता है वह फिर दृश्यत्व, प्रकृतिपरिणामित्व आदि हेतुओं से देह का अचेतनत्व कैसे सिद्ध करेगा? यदि दृश्यत्वनिर्विशेष होने पर भी देह में अचेतनत्व और अन्तःकरण में ज्ञातृत्व संभव है और देहत्वादि के तुल्य व्यवस्थित है तब तो दृशित्वादि भी अन्तःकरण में सिद्ध किया जा सकता है"। पर यह ठीक नहीं क्योंकि ज्ञातृत्व जड़ धर्म ही है वह अजड़ धर्म या चिद्धर्म नहीं। तथा अजड़त्व हेतु से ज्ञातृत्वात्भावसिद्धि में कोई बाधा नहीं। हेतु को अप्रयोजक नहीं कहा जा सकता क्योंकि अजड़त्व रहे और ज्ञातृत्वाभाव न रहे तो इस प्रसञ्जक व्याप्ति में ज्ञातृत्व होने पर अजड़त्वानापत्ति होनी चाहिये, यही विपक्ष में बाधक तर्क है। यदि ज्ञातृत्वाभाव होने पर अजड़त्व न होगा, यह आपादन किया जाय तो यह ठीक न होगा, क्योंकि अजड़त्व तो चित्स्वरूप से ही प्रयुक्त है। वस्तुतः जहाँ अजड़त्व है वहाँ ज्ञातृत्व है यह व्याप्ति प्रतिवादी को नहीं मान्य है। क्योंकि धर्मभूत ज्ञान में व्यभिचार है। इसी तरह जहाँ ज्ञातृत्व है वहाँ अजड़त्व है, इस अन्वयव्याप्ति में भी व्यभिचार है। क्योंकि ज्ञातृत्ववान् अन्तःकरण में अजड़त्व नहीं है अतः अन्तःकरणादि का दृष्टान्त असिद्ध है। इसी तरह दृश्यत्व या अविद्यापरिणामत्व अन्तःकरण के ज्ञातृत्वादि का कारण नहीं है। क्योंकि आकाश वायु आदि सभी प्रपञ्च का प्रतिनियत विभिन्न धर्मवत्त्व भङ्ग होने से सर्वसाङ्कर्य का प्रसंग होगा। सत्त्व, रजस्, तमोगुणात्मक अविद्या सम्बन्धी तत्तद्गुणों के तारतम्यादि के कारण होनेवाला प्रतिनियत तत्तद्धर्मविशिष्टरूप परिणाम ही प्रतिनियत धर्मवत्त्व का कारण कहा जा सकता है। अन्तःकरण के तुल्य शरीरादि सत्त्वप्रधान सूक्ष्म आकाशादि भूतों का परिणाम नहीं है; इसी लिये फिर अन्तःकरण के समान शरीरादि नहीं होते तथा, चार्वाकादि तुल्यता भी अद्वैती के यहाँ नहीं होती। दृशिरूपता तो चित्स्वरूपता के कारण होती है। अविद्या या अन्तःकरणादि तो दृशि के अधीन ही प्रकाशित होते हैं। दृशिसाक्षात्कार से ही उनका बाध भी होता है। फिर उनमें दृशिरूपता कैसे बन सकती है? इसलिये ज्ञातृत्वविशिष्ट अन्तःकरण के तादात्म्याध्यास से ही चिन्मात्र में औपाधिक ज्ञातृत्व होता है। वह शुद्ध आत्मा की अपेक्षा विषम सत्तावाला होने से मिथ्या ही है। ज्ञातृत्वादिरहित निर्विशेष

आत्मा ही श्रुतिसिद्ध है; उसी अज्ञानाश्रय एवं अज्ञानविषय या अज्ञानोपहित आत्मा में ही तद्भिन्न सब कुछ कल्पित है इसलिये ज्ञातृत्वादि सभी कल्पित एवं औपाधिक ही हैं। ज्ञातृत्वादि प्रकाश भ्रान्ति हैं, क्योंकि 'स्थूलोऽहम्' इत्यादि प्रतीति के समान ही वह भी देहात्माभिमानवाले को ही भासित होता है।

ईश्वर का ज्ञातृत्व भी ऐसा ही है। ईश्वर सर्वशरीरक है। 'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः' के अनुसार शरीरानुप्रवेश के द्वारा वह भी देहात्मप्रत्ययवान् होता है। यद्यपि वह नित्य ज्ञानवान् है फिर भी व्यवहार काल में ज्ञानियों के समान वह भी देहात्मप्रत्यय धारण करता है। ब्रह्मसाक्षात्कार से ब्रह्मातिरिक्त सभी बाधित होता है। ब्रह्मसाक्षात्कारमात्र निवर्त्य पदार्थविषयक ज्ञान ही भ्रान्ति है। वामदेवादि जीवन्मुक्तों में भी बाधितानुवृत्ति से देहात्मप्रत्यय होता है इसी लिये हेतुसाध्य दोनों का ही समन्वय हो जाता है। अद्वैतानुसार ईश्वर का ज्ञान भी मायापरिणामात्मक वृत्ति होने से व्यावहारिक ही है। अतः उसके ज्ञान में भी ब्रह्मसाक्षात्कारमात्रनिवर्त्य विषयज्ञानत्व है और देहात्मप्रत्ययवान् का जायमान प्रकाश भी है। निर्विशेष में ज्ञातृत्व प्रकाश स्वीकृत नहीं हो सकता। अहंकाराध्यास बिना ज्ञातृत्वादि धर्म का अध्यास भी नहीं होता। योगी, ज्ञानी, ईश्वर, जहाँ भी ज्ञातृत्व होगा वहाँ अहं प्रत्यय भी होगा। वह बाधितानुवृत्ति से होगा। धर्मभूत ज्ञानाश्रयता इसी तरह बन सकती है। संविद् स्वरूप ज्ञान चाहे विशद हो चाहे अविशद, भ्रान्ति उसमें नहीं होती। अधिष्ठान एवं आरोप्य उभयविषयक ज्ञान ही भ्रम होता है। अतः केवल संविद्धान स्वयंप्रकाश एवं अजायमान है। इसलिये संविद्धान स्वयंप्रकाश तथा अजायमान होने से भ्रान्ति नहीं। वह देहात्माभिमानवान् को ही जायमान होता है, यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि सुषुप्ति एवं असंप्रज्ञात समाधि में देहात्माभिमान न होनेपर भी संविद्धान रहता है। संविद् का दूसरा अधिष्ठान नहीं प्रसिद्ध है। मुक्ति दशा में सर्वविषय बाध और संविन्मात्र का प्रकाश श्रुतिबोधित है। ईश्वरादि के ज्ञातृत्वबोधक श्रुति का अन्यथा उपपादन किया ही जा चुका है।

"ज्ञातृत्वाध्यास संविद् अधिष्ठान में नहीं हो सकता क्योंकि यदि संविद् ज्ञातृत्व का अधिष्ठान हो तब तो अनुभविता के 'इदं रजतं' के समान ही 'ज्ञातृत्वं ज्ञानम्' ऐसा प्रकाश होना चाहिये। ज्ञातृत्व का अन्य कोई पारमार्थिक अधिष्ठान अद्वैती को मान्य नहीं है; अपरमार्थ किसी भी

वस्तु का अधिष्ठान अन्त में संविद् को मानना पड़ेगा। उसमें भी संविद् सामानाधिकरण्येन प्रकाश प्रसक्त होगा।" परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि ज्ञातृत्व आदि का साक्षात् संवित् अधिष्ठान नहीं है किन्तु ज्ञातृत्व धर्मवाले अहं का पहले संविद् में अध्यास होता है। फिर उसके ज्ञातृत्व धर्म का संविद् में अध्यास होता है। इसी लिये अहंकाररूप द्वार के बिना संविद् के साथ ज्ञातृत्व का सामानाधिकरण्येन प्रकाश नहीं होता। अतएव 'ज्ञानं ज्ञातृत्वं' ऐसी प्रतीत्यापत्ति नहीं होती। 'इदं रजतम्' इत्यादि स्थलों में रजतत्वविशिष्ट रजत का अध्यास होने पर रजतत्व धर्म का भी स्वधर्मि रजत के द्वारा अध्यास होता है। इसी लिये 'इदं रजतत्वं' ऐसी प्रतीति नहीं होती। इसी तरह अग्नि के द्वारा दग्धृत्व के भी आरोप होने पर धर्मितादात्म्य की प्रतीति बिना धर्ममात्र की 'अयोदग्धृत्वं' ऐसी प्रतीति नहीं होती। 'इदं रजतम्' इस प्रतीति में जैसे रजत एवं इद दोनों साक्षात् धर्मी का ही सामानाधिकरण्य होता है, उसी तरह साक्षात् धर्मी संविद् एवं अहं का ही सामानाधिकरण्य प्रत्यय होता है। तत्रापि यद्यपि 'अहं संवित्' ऐसी प्रतीति नहीं है तथापि 'अहं' यह प्रतीति चिदचित्-ग्रन्थिरूप ही है अतः 'इदं रजतं' के तुल्य ही है। 'इदं रजतं' के समान ही अहं में भी परस्पराध्यास मान्य है। ऐसे स्थलों में आरोप्यांश में अधिष्ठान का संसर्गमात्र अध्यस्त होता है, किन्तु अधिष्ठान में तो आरोप्य का स्वरूप एवं संसर्ग दोनों ही अध्यस्त होता है, इस तरह अधिष्ठान का स्वरूपाध्यास नहीं होता, अतएव संवित् की असत्यत्वापत्ति का कोई प्रसंग नहीं। अतएव 'अहं ज्ञानं' ऐसी प्रतीति भी नहीं होती क्योंकि ज्ञातृत्वविशिष्ट अहंकार का ही संविद् में अध्यास होता है, अतएव 'अहं जानामि' यहाँ साश्रयज्ञान या ज्ञाता अध्यस्त रूप से ही अहमंशान्तर्गत संविदाश्रयत्वेन प्रतीत होता है। यहाँ अहमर्थ को अधिष्ठान मानकर तद्गतरूप से संविद् की प्रतीति नहीं होती, अतएव सत्यरूप से अभिमत संविद् का अहमर्थ अधिकरणरूप से प्रतीत होना चाहिये यह नहीं कहा जा सकता। अर्थात् 'अहं जानामि' इस प्रत्यय में अहमर्थान्तर्गत अविद्योपहित स्वप्रकाश एक चैतन्य अविशद रूप से भासमान होता है और 'ज्ञा' धात्वर्थ एक अध्यस्त अन्य ज्ञान भी प्रतीत होता है। द्वितीय अध्यस्त है। साक्षी के द्वारा उसका विशद अवभास उसी तरह होता है जैसे 'इदं रजतम्' इस साक्षिभास्य ज्ञान में रजत का।

अहमर्थ का ज्ञानाधिकरण रूप से भान होता है। कहा जाता है कि "मुख प्रतिबिम्ब स्थल में तो दर्पणप्रतिहत होने से परावर्तित नयनरश्मि से देश-

वियुक्त मुखमात्र का ग्रहण होता है और दर्पणदेश ग्रहण होता है। देशत्व साम्येन मुख भेदाग्रह से दर्पण में मुखदेशत्व का आरोप होता है, यत्किंचिद् देशवर्ती मुख में दर्पणदेशवृत्ति वस्त्वन्तर से देशित्वादि साम्य होने एवं अन्यदेशवृत्तित्व के अग्रहण होने से दर्पणदेशित्व का अध्यारोप होता है। परन्तु संवित् तो निर्विशेष है, उसमें देश्यन्तर साम्य असंभव है, साथ ही तद्भेदाग्रह भी असंभव है, फिर उसमें अहमर्थदेशित्व का आरोप कैसे होगा? निर्विशेष में भेदाग्रहमूलक भ्रम भी दुर्ग्रह है"। परन्तु यह भी ठीक नहीं; क्योंकि जैसे दर्पण में मुखसंसर्ग का अध्यास होता है वैसे संविद् में अन्तःकरण ज्ञातृत्वादि संसर्गमात्र का अध्यास नहीं है, किन्तु अध्यस्त के अधिष्ठानगत-रूप से प्रतीति होने में ही प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त दिया गया है। जहाँ धर्मियों का तादात्म्याध्यास मान्य है उस पक्ष में 'लोहितः स्फटिकः' के तुल्य धर्ममात्र का प्रतिविम्बाध्यास भी विरुद्ध नहीं है। इससे भी संविद्रूप अधिष्ठान की अहंकारदेशता की कल्पना नहीं होती। जल में आकाश का प्रतिबिंब नीरूप का ही प्रतिबिम्ब है।

अहंकारोपहित चैतन्य ही अहंकार तादात्म्याध्यास से अहमर्थ है। ज्ञातृत्व-विशिष्ट अहङ्कार ज्ञप्तिमात्र में अध्यस्त होता है। विशिष्ट में 'अहं जानामि' ऐसी प्रतीति होती है। धर्म धर्मि दोनों का ही तादात्म्याध्यास होता है इस सिद्धान्त से ज्ञप्तिधर्म रूप से ज्ञातृत्व धर्म का अध्यास होता है। इसी लिये ज्ञप्ति की ज्ञातृता का व्यवहार होता है। ज्ञातृत्वविशिष्ट अहंकार अविद्या का परिणाम है और अहंकार का ज्ञातृत्व अहङ्कारसमसत्ताक है। ज्ञप्तिमात्र के अधिष्ठान होने पर भी साश्रयरूप से ही ज्ञातृत्व का अध्यास होता है अतएव 'ज्ञप्ति ज्ञान है' ऐसी प्रतीति नहीं होती। ज्ञप्ति में ज्ञातृत्व प्रातिभासिक ही है। सोपाधिकाध्यास पक्ष में ज्ञातृत्व संसर्गमात्र का ज्ञप्ति में अध्यास होता है। फिर तो ज्ञप्तिमात्र में संसृष्टरूप से ही ज्ञातृत्व प्रतीत होता है। 'लोहितः स्फटिकः', 'अयोदहति' के तुल्य 'अहं जानामि' यह सोपाधिक अध्यास है। इस पक्ष में क्षणमात्र पहले अहङ्कारमात्र का अध्यास होता है, अनन्तर धर्माध्यास होता है। इस प्रकार की विवक्षा करके दोनों धर्मियों का अध्यास धर्माध्यास से पूर्व सिद्ध ही है। ज्ञप्ति और अहंकार में 'अग्नि' और 'अय' के तुल्य लौकिक पारमार्थिकता भी रहेगी। 'लोहितः स्फटिकः' इत्यादि में लौहित्यसंसर्गमात्र का ही अध्यास है, वहाँ भी यही न्याय है।

शुद्धात्मसाक्षात्कार और भक्ति

अप्पययाजी दीक्षित ने अद्वैतवाद में निष्ठा रखते हुए भी भक्ति के लिये विशिष्टाद्वैत पर्यवसायी श्रीकण्ठीय शैवभाष्य पर 'शिवार्कमणि दीपिका' लिखी है। उनका कहना है कि यद्यपि अद्वैत में ही श्रुतिशीर्ष उपनिषदों का पर्यवसान है और सभी आगमों का भी पर्यवसान उसी में है। सभी पुराणों, उपपुराणों, मन्वादि धर्मशास्त्रों तथा महाभारत, रामायणादि सभी प्रबन्धों की भी अद्वैत में ही निष्ठा है। विचार करने पर ब्रह्मसूत्रों की भी अद्वैत में ही विश्रान्ति है, अतएव प्राचीन शङ्कर, पतञ्जलि, गौड़पाद, शुक, व्यास, पराशर, वशिष्ठ, नारायण प्रभृति आचार्यरत्नों ने भी अद्वैत सिद्धान्त ही स्वीकार किया है; तो भी तरुणेन्दुशिखामणि भवानीपति शिव के अनुग्रह बिना अद्वैत निष्ठा प्राप्त नहीं होती अतः शिवार्कमणि दीपिका द्वारा शिवतत्व निरूपण का प्रयास है।

"यद्यप्यद्वैत एव श्रुति·शिखरगिरामागमानाञ्च निष्ठा।
साकं सर्वैः पुराणैः स्मृतिनिकर महाभारतादिप्रबन्धैः॥
तत्रैव ब्रह्मसूत्राण्यपि च विमृशतां भान्ति विश्रान्तिमन्ति।
प्रत्नैराचार्यरत्नैरपि परिजगृहे शङ्कराद्यैस्तदेव॥
तथाप्यनुग्रहादेव तरुणेन्दुशिखामणेः।
अद्वैत वासना पुंसां केषाञ्चिदिह जायते॥"

अद्वैतनिष्ठा योग्यता प्राप्ति के लिये प्रथम भक्ति की जाती है परन्तु अन्त में भक्ति करना ज्ञानी का स्वभाव बन जाता है। यही बात 'त्रिपुरा रहस्य' में कही गयी है—

"यत्सु भक्तैरतिशय प्रीत्या कैतव वर्जनात्।
स्वभावस्य स्वरसतो ज्ञात्वापिस्वाद्वयंपदम्॥
विभेद भावमाहृत्य सेव्यतेऽत्यन्त तत्परैः"।

अर्थात् सुभक्त लोग कैतवशून्य होकर अतिशय प्रीति से जिसका सेवन करते हैं वह यद्यपि ज्ञानी भक्तों का स्वात्मा ही है फिर भी उसे आहार्यभेद ज्ञान से ज्ञानी अतिशय प्रीति से उसे भजते हैं। परम आप्तकाम, पूर्णकाम ज्ञानी फलानुसन्धान बिना स्वभाव से ही उसमें प्रेम करते हैं—

आचार्य शङ्कर ने कहा ही है—

"यावज्जीवं त्रयो बन्द्या वेदान्तो गुरुरीश्वरः।
आदौ विद्याप्रसिद्धयर्थं कृतघ्नत्वापनुत्तये॥"

जब तक जीवन रहे वेदान्त, गुरु एवं ईश्वर की भक्ति वन्दना करते रहना चाहिये। प्रथम ब्रह्मविद्या प्राप्ति के लिये वैसा करना आवश्यक है पश्चात् कृतघ्नता दूर करने की दृष्टि से उनकी वन्दना आवश्यक है।

भागवत का स्पष्ट घोष है कि आत्माराम महामुनीन्द्र चिदचिद्ग्रन्थि के विमोक के अनन्तर भी भगवान् में अहैतुकी भक्ति करते हैं। यद्यपि लोक में बिना प्रयोजन के किसी कार्य में किसी की प्रवृत्ति नहीं होती तथापि भगवान् में गुण ही कुछ इस प्रकार के हैं कि जिससे कुछ प्रयोजन न होने पर आत्मारामों का चित्त उनमें आकृष्ट हो जाता है। वे चाहें तो भी अपने मन को उधर से हटा नहीं सकते। तभी तो एक भक्त कहता है—जब तक मैं निरञ्जन निर्गुण सर्वव्यापी तत्व का हृदय में अनुभव करने का प्रयत्न करता हूँ, उससे पहले ही मेरे हृदय में अञ्जनपुञ्जमञ्जु कोई गोप शिशु बलात् प्रस्फुरित होने लगता है—

"यावन्निरञ्जनमजं पुरुषं जरन्तं सञ्चिन्तयामि सकले जगति स्फुरन्तम्।
तावद्बलात् स्फुरति हन्त हृदन्तरे मे गोपस्य कोपि शिशुरञ्जनपुञ्जमञ्जुः॥"

शुक के सम्बन्ध में कहा ही गया है—

"परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोक लीलया।
गृहीतचेता राजर्षे अध्यगां संहितामिमाम्॥"

निर्गुण ब्रह्म में परिनिष्ठित होने पर भी हरिगुणों से आकृष्ट होकर श्रीभागवत के अभ्यास में संलग्न हुए। कुन्ती ने तो यहाँ तक कह डाला कि अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रों को भक्तियोग विधानकर श्री परमहंस बनाने के लिये निर्गुण निराकार परब्रह्म सगुण साकार रूप में प्रकट होते हैं—

"तथा परमहंसानाम् मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोग विधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः॥"

यद्यपि कुछ लोग तो कहते हैं कि निर्गुण निराकार अद्वैत ब्रह्मतत्व है ही नहीं। अगणित प्रतिष्ठित भक्तों के ऐसे उदाहरण हैं कि जो ब्रह्म को निर्गुण निराकार अद्वैत मानते हुए भी भगवान् की भक्ति में लवलीन रहे हैं।

श्री भागवत एवं श्री रामचरित मानस तो इसी आधार पर भक्ति विरक्ति भगवत्प्रबोध का सामंजस्य बतलाते हैं। वेद उपनिषदों तथा अन्य पुराणों का भी ऐसा ही स्वारस्य प्रतीत होता है। सन्त ज्ञानेश्वर, निवृत्तिनाथ, मुक्ता बाई, तुकाराम, एकनाथ, समर्थ आदि सब अद्वैतवादी होते हुए भी अनन्य वैष्णव थे।

भारत में लाखों नहीं करोड़ों व्यक्ति उनके अनुयायी हैं—

"तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपम्।
स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्॥
त्वय्येव नित्यसुखबोध तनावनन्ते,
मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति॥"

श्लोक का सीधा अर्थ है—यह सम्पूर्ण संसार असत्स्वरूप है, स्वप्न तुल्य, विचारासहिष्णु, अविचारितरमणीय तथा बहुदुःख संकुल किंवा दुःखरूप ही है। नित्य सुखबोधस्वरूप अनन्त भगवान् में माया से उदित सा होकर सत् सा प्रतीत होता है।

"झूँठहु सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजङ्ग बिनु रजु पहिचाने॥"
"रजत सीप महँ भास जिमि यथा भानुकर बारि।
यद्यपि मृषा तिहुँ काल महँ भ्रम न सकइ कोउ टारि॥"
"जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे यथा स्वप्न भ्रम जाई॥"
"जगत् प्रकाश्य प्रकाशक रामू।"
"सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवइ निद्रा तजि योगी।
सो हरि पद अनुभवइ परमसुख अतिशय द्वैतवियोगी॥"

कई लोग कहते हैं "जो द्वैत को मिथ्या मानेगा वह भक्ति कर ही नहीं सकता। सगुण साकार जिसकी दृष्टि में सर्वथा मिथ्या एवं असत् है उसकी भक्ति विडम्बनामात्र है"। परन्तु ऐसा कथन तथ्यहीन है। क्योंकि मिथ्या शब्द का अपह्नव या अपलाप अर्थ करना लोगों को भ्रम में डालना है। घट मृत्तिका की अपेक्षा मिथ्या अनिवर्चनीय है, इसका इतना ही अर्थ है कि वह मृत्तिका के समान सत्तावाला नहीं है किंतु मृत्तिका की अपेक्षा वह बाधित है। उसकी अपेक्षा मृत्तिका अबाधित है अतएव सत्य है। परन्तु अपने कारण जल की अपेक्षा बाधित होने से मृत्तिका भी मिथ्या ही है, तो भी जलानयनादि कार्यकरण-क्षमता उसमें है ही।

नास्तिक बौद्धों की अपेक्षा आस्तिक अद्वैत वेदान्तियों की विशेषता है। देहादि द्वैत के मिथ्या होने पर भी उसमें जितना स्नेह एवं उसके रक्षण-पोषण में तत्परता होती है उतनी भक्ति भगवान् में हो तो अनायास ही प्राणी का कल्याण हो जाता है। भक्तों ने यही प्रभु से मांगा है कि अविवेकियों को देहादि अनात्मा में जितनी प्रीति होती है उतनी प्रीति आपके चरणों में हो—

"सेवत सीय लषण रघुबीरहिं।
जिमि अविवेकी पुरुष शरीरहिं॥"

"या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतो नाथ हृदयान्मापसर्पतु॥"

जैसे पक्षहीन पक्षिशावक अपनी अम्बा को मिलना चाहते हैं, अतृणाद क्षुधातुर वत्सतर माता का स्तन्य पाने को उत्सुक होते हैं, विरहिणी प्रेयसी अपने प्रोषित प्रेयान् से मिलने के लिये व्याकुल होती है, उसी तरह अरविन्दनयन! आप को देखने के लिये मेरा मन उत्कण्ठित है।

"अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥"

ब्रह्मादि देवशिरोमणि ब्रजरज की अभिलाषा करते हैं। रज का महत्त्व भगवान् के चरणस्पर्श से ही है। चरणादि भगवान् के अङ्गसङ्ग से ही पीताम्बर तथा कौस्तुभादि का महत्त्व है। उनकी अपेक्षा भी भगवान् के सौन्दर्य माधुर्य आदि दिव्य गुणों का महत्त्व है। भगवान् अपने कण्ठ की शोभा के लिये नहीं किन्तु कौस्तुभ की शोभा बढ़ाने के लिये उस पर अनुग्रह करके उसे धारण करते हैं—"कण्ठश्च कौस्तुभ मणेरधिभूषणार्थम्"; इसी तरह गुणों के द्वारा भगवान् के स्वरूप में महत्त्वातिशय या आनन्दातिशय का आधान नहीं किया जा सकता क्योंकि भगवान् के स्वरूप का महत्त्व एवं आनन्द निरतिशय है। अनर्थ उसमें है ही नहीं अतएव अनर्थनिबर्हण भी गुणों का प्रयोजन नहीं। इसी लिये निर्गुण निरपेक्ष भगवान् गुणों पर भी अनुग्रह करके ही उन्हें स्वीकार कर लेते हैं—"निर्गुणं मां गुणाः सर्वे भजन्ति निरपेक्षकम्।"

जैसे अन्तरङ्ग-अन्तरङ्ग उपकरण भूषण गुणस्वरूप आदि के उत्कर्ष में तारतम्य है वैसे ही उनके सत्त्व एवं स्फूर्ति में भी तारतम्य है। जैसे स्वरूपापेक्षया

गुणादि में उत्कर्ष का तारतम्य होता है वैसे सत्त्व और स्फूर्ति में भी तारतम्य है। अधिष्ठानभूत स्वरूप की स्वतःसत्ता तथा स्वतःस्फूर्ति होती है तद्भिन्न में स्वरूपापेक्ष ही सत्ता और स्फूर्ति होती है।

जैसे कुछ लोग राजा के बनाये हुए राजा होते हैं कोई स्वतः राजा होता है। स्वतः राजा ही राजाओं का राजा राजराज कहा जाता है। उसी तरह अन्य अप्रभुओं को प्रभु बनानेवाला प्रभु का प्रभु इस ढङ्ग के प्रयोग ब्रह्मतत्त्व के सम्बन्ध में मिलते हैं।

"सूर्यस्यापिभवेत्सूर्यः अग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः।
श्रियः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्तिः कीर्त्याः क्षमा क्षमा॥"

—वा० रा०, उ० का०, सर्ग ४४

सुमित्रा कौशल्या से कहती हैं—राम सूर्य के भी सूर्य, अग्नि के भी अग्नि, प्रभु के प्रभु और श्री के भी श्री हैं। इसी तरह श्रोत्रस्य **'श्रोत्रं चक्षुषश्चक्षुः प्राणस्यप्राणः'** इत्यादि श्रौत प्रयोग भी हैं। ठीक ऐसे ही ब्रह्म को सत्य का सत्य कहा गया है **'सत्यस्य सत्यम्'** षष्ठ्यन्त सत्य प्रथमान्त सत्य की अपेक्षा न्यून है, इसी आधार पर सत्तात्रैविध्य की कल्पना भी है।

शुक्ति रजतादि की अपेक्षा घटादि सत्य हैं, क्योंकि घटादि की अपेक्षा शुक्ति रजतादि बाध्य होते हैं अतः वे प्रातिभासिक सत्य कहे जाते हैं, घटादि उनकी अपेक्षा अबाध्य होने से व्यावहारिक सत्य होते हैं। घटादि मृत्तिका कार्य में स्वकारण की अपेक्षा बाध्य मिथ्या एवं न्यून सत्तावाले होते हैं। मृत्तिका उनकी अपेक्षा अबाध्य, सत्य एवं अधिक सत्तावाली होती हैं। क्रमेण इसी तरह बढ़ते-बढ़ते भगवद्गुणादि सर्वापेक्षया सत्य, उत्कृष्ट, अबाध्य एवं अधिक सत्तावाले होते हैं। परन्तु सर्वान्तरतम भगवत्स्वरूप उनकी अपेक्षा भी अधिक उत्कृष्ट सत्य एवं अत्यन्ताबाध्य होता है। इस तरह भगवत्स्वरूपापेक्षया गुणादि के किञ्चिन्न्यून सत्तावाला होने पर भी कोई बाधा नहीं, यही स्व समान सत्ता के द्वितीय का न होना ही भगवत् स्वरूप की अद्वितीयता है। भगवान् का लीलाविग्रह एवं सौन्दर्य-माधुर्य आदि वस्तु भी चिदानन्दसारसर्वस्व भगवत्स्वरूप ही है। जैसे जल ही बर्फ के रूप में व्यक्त होता है, जैसे अव्यक्त अग्नि दारु में दाहकत्व, प्रकाशकत्व विशिष्ट होकर प्रकट होता है वैसे ही प्रकृत में समझना चाहिये। इस रूपान्तर प्रतीति का मूल भगवान् की दिव्य अचिन्त्य शक्ति है, उसी में भगवत्स्वरूपापेक्षया किञ्चिन्न्यून सत्ताकत्व पर्यवसित होता है। अतएव

ब्रह्मविद्वरिष्ठ भी पूर्णानुराग रससारसरोवर समुद्भूत सरोजस्वरूप प्रभु में अपने मनोमिलिन्द को लगाने में लोकोत्तर रस का अनुभव करते हैं। इतना ही नहीं भावुकों ने सच्चिदानन्द सार सरोवर समुद्भूत सरोजस्वरूप व्रज को माना है। सरोजस्थ केशरों को व्रज सीमन्तिनी, तदन्तर्गत पराग को कृष्ण और परागान्तर्गत मकरन्द को श्रीवृषभानुनन्दिनी कहा है। यह सभी उत्कर्ष तारतम्य भगवत्स्वरूप में ही दिव्य लीलाशक्ति के द्वारा सम्पन्न होता है। यद्यपि संसार भी परब्रह्मस्वरूप में मायाकृत विलासविशेष ही है तथापि जैसे नेत्र और सूर्य के मध्य में मेघादि अस्वच्छ उपाधि सूर्यस्वरूप का आच्छादन करती है और उपनेत्र एवं सूक्ष्म दूरवीक्षणादि सूर्यस्वरूप के आच्छादक न होकर व्यञ्जक ही होते हैं, उसी तरह सत्त्वादिमयी मायाशक्ति स्वरूप को प्रावृत करके प्रपञ्च प्रतिभासित करती है। परन्तु अचिन्त्य दिव्य परमान्तरङ्गा लीलाशक्ति स्वरूप प्रावरण बिना ही विविध माधुर्यमय भावों की अभिव्यञ्जिका होती है।

———

परमार्थसार

खंड : २

'परमार्थसार'

भगवान् शेष को कौन आस्तिक नहीं जानता। अनन्त ब्रह्माण्डनायक, परात्पर, परब्रह्म, भगवान् विष्णु के जो न केवल विष्णु पुराण, पद्म पुराण, भागवत पुराण, अपितु वेदादि सकल सच्छास्त्रों के महातात्पर्य के विषय हैं—आधारभूत शय्याभूत हैं। परब्रह्म का आधार वह स्वयं ही होता है। अन्तिम मूल का कोई मूल न होने से वह अमूल कहलाता है। उसी तरह अन्तिम प्रकाशक का कोई प्रकाशक न होने से वह स्वप्रकाश कहलाता है। ठीक इसी तरह अन्तिम आधार का आधार न होने से वह 'निराधार', 'स्वप्रतिष्ठ' कहलाता है। यही श्रुति भी कहती है—**'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि,'** (छान्दोग्य); परब्रह्म किसमें प्रतिष्ठित है, इस प्रश्न का यही उत्तर है कि वह स्वमहिमा में ही प्रतिष्ठित है। इस दृष्टि से उसके स्वरूप में ही अघटितघटनापटीयसी, मंगलमयी मायाशक्ति की महिमा से आधाराधेय की कल्पना होती है। इसी दृष्टि से कार्यों की अपेक्षा कारण में परत्व की कल्पना है। सब कार्यों के ऊपर कारण होता है। सूक्ष्म प्रकृतिशक्तिविशिष्ट चैतन्य ही अव्याकृत कारण ब्रह्म कहा जाता है, वही शेष भी होता है। कार्य के बाध होने पर कारण ही शेष रहता है। **'शिष्यते यः स शेषः'** जो बाकी बचे वही शेष है। ब्रह्मा की द्विपरार्द्ध आयु व्यतीत हो जाने पर सब लोक नष्ट हो जाते हैं। पञ्च महाभूत भी अहङ्कार में लीन हो जाते हैं। काल के वेग से सम्पूर्ण 'अहम्' आदि व्यक्त पदार्थ भी अव्यक्त में लीन हो जाते हैं। तब उस समय सब संज्ञानों के अधिष्ठान भगवान् ही शेष रहते हैं। इसी लिये उनकी शेष संज्ञा होती है।

"नष्टे लोके द्विपरार्द्धावसाने महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु।
व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन जाते भवानेकःशिष्यते शेषसंज्ञः॥"

अमृताम्भोधिमय दिव्य क्षीरसागर के मध्य में अनन्तानन्त भास्कर प्रभाभास्वर, चिदानन्द, प्रकाशपुञ्जमय, दिव्याङ्गप्रभासंवलित, अचिन्त्य अद्भुत रत्नप्रभामण्डित, सहस्रफणाटोप विरञ्जित, भगवान् शेष अपने आपको शेषशायी भगवान् की शय्या बनाकर सचमुच सर्वशेषी भगवान् के शेष (अङ्ग)

बन गये। उनके ऊपर दामिनीद्युतिविनिन्दक, पीतवाससंबलित, चिदानन्दसार-सर्वस्व, परममङ्गलमय भगवान् विष्णु विराजमान होते हैं—**अव्याकृतमनन्ताख्यमासनं यदधिष्ठितः'** (भागवत); अव्याकृत शेष अनन्त भगवान् ही भगवान् के आसन हैं। जैसे कार्यों के ऊपर कारण होता है वैसे ही कारण के ऊपर कार्यकारणातीत परब्रह्म भगवान् विराजमान होते हैं।

भगवान् के सगुण साकार रूप में प्रादुर्भाव का परम प्रयोजन मर्त्यशिक्षण ही है। प्रीति, भक्ति, सेवा के आदर्श स्थापनार्थ ही भगवान् का विविध रूप में आविर्भाव होता है। सीताराम, राधाकृष्ण के रूप में, शिव-विष्णु के रूप में प्रभु का प्रादुर्भाव इसी परानुरक्ति का आदर्श दिखलाने के लिये होता है। स्वात्मसमर्पण-सेवा का लोकोत्तर आदर्श उपस्थापित करने के लिये ही भगवान् का शेषशायी रूप में प्रादुर्भाव है। भगवान् को ही सर्वशेषी मानकर अपने को उनका उपकरण शेष बना देना यही आदर्शसेवा का उदाहरण है। शय्या के रूप में, छत्र के रूप में, सिंहासन के रूप में, शेष ही प्रकट होते हैं; व्यापि-वैकुण्ठ, अवध, ब्रजधाम, आदि के रूप में भी उसी कारण शेष तत्त्व का प्रादुर्भाव होता है। प्रभु की सभी सेवाओं के उपकरण रूप से भक्त स्वयं प्रकट होने की अभिलाषा रखते हैं, और प्रभु को ही अपना अलङ्कार बनाकर अपने हृदय में, शिर में, प्रभु को धारण करने की कामना ही भक्त की कामना होती है। ब्रजयुवतियों ने अपने प्राणवल्लभ मदनमोहन को अपने कानों का कुवलय (कमलकुण्डल), नयनों का अञ्जन, उरोजों का मृगमद और उरस्थली का हार बना लिया था—

"श्रवसोःकुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम।
वृन्दावनतरुणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति॥"

अर्थात् ब्रजसीमन्तिनी जनों के कानों के कुण्डल, आँखों के अञ्जन, उरस्थल की महेन्द्रमणिमाला, किं बहुना उनके सर्वाङ्गमण्डन होकर श्रीहरि ही विराजमान हैं।

भक्तिभावरसभाविता सुमति के द्वारा भक्त अपने आप को अनन्तानन्त उपकरणों के रूप में प्रस्तुत करता है। वही शेष भगवान् लक्ष्मण के रूप में धनुष बाण धारण किये सजग प्रहरी बने हुए हैं। देह गेह सब कुछ तृण के तुल्य त्यागकर अखण्ड सेवाव्रत में लवलीन हैं। वही बलराम के रूप में अभिभावक बनकर विशिष्ट सेवाव्रत का पालन करते हैं, वही भगवान् शेष प्रभु

के परम प्रिय स्वांशसन्तान तथा स्वात्मभूत जीवों के उद्धारार्थ आचार्य बनकर भी प्रकट होते हैं। सांख्यायन के लिये श्रीभागवत सिद्धांत का उपदेश भी उन्होंने ही किया है। सहस्रमुख से दो सहस्र जिह्वा के द्वारा भगवान् के नामामृत, कथामृत का पान और वितरण करने का व्रत लिये हुए चराचर प्रपञ्चधारयित्री धरित्री का अनायास ही धारण भी करते हैं।

उन्हीं शेष ने चरक, महाभाष्य, पातञ्जल दर्शन जैसे दिव्य सद्ग्रन्थों के द्वारा प्राणियों के देह, वाक् एवं चित्त का संशोधनकर अन्त में परमार्थसार का उपदेश करके प्राणियों को परात्पर परब्रह्म तत्त्व प्रदान करके पूर्ण कृतार्थ बनाने का भी अनुग्रह किया है।

कहा जाता है आद्य शङ्कराचार्य के गुरु श्रीगोविन्द भगवत्पाद भी भगवान् पतञ्जलि शेष भगवान् ही थे और रामानुज सम्प्रदाय के अनुसार श्रीमद् रामानुजाचार्य भी शेष के ही अवतार हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि विभिन्न अधिकारियों की दृष्टि से भगवान् शेष ने योग, भक्ति और ज्ञान के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। गीता में भगवान् भी तो कहते हैं कि एकत्व तथा पृथक्त्व से भिन्न भिन्न अधिकारी मेरी उपासना करते हैं—'**एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम्।**'

आप्तकाम पूर्णकाम आत्माराम परमनिष्काम भगवान् शेष ही जब प्राणि-कल्याण के लिये उतारू हो जायँ तब फिर क्या बाकी रह सकता है। देह वाक् चित्त शुद्धि का अन्तिम फल है भगवद्रूपसाक्षात्कार तथा तन्निष्ठा। सब कुछ होने पर यदि भगवत्तत्त्व की अनुभूति न हुई तब तो फिर सब केवल श्रम ही है। इस सद्ग्रन्थ की चर्चा 'लघुमञ्जूषा' में नागेश जी भट्ट करते हैं—'**तदुक्तं परमार्थसारे शेषनागेन**'। इस ग्रन्थ में भी कहा गया है कि—

"वेदान्तशास्त्रमखिलं विलोक्य शेषस्तु जगदाधारः।
आर्यापञ्चाशीत्या बबन्ध परमार्थसारमिदम्॥"

जगत् के आधारभूत शेषनाग ने अखिल वेदान्तशास्त्र का आलोडन करके पचासी आर्या के द्वारा परमार्थसार का सङ्कलन किया है। जो भगवान् का अनन्य भक्त होता है वही भगवान् के रहस्य का ज्ञाता हो सकता है। अन्तरङ्ग रहस्य का ज्ञान अन्तरङ्ग को ही हो सकता है। जो भगवान् शेष परमार्थतः भगवान् के आसन छत्र आदि हैं, और जो स्वात्मसमर्पण करके सर्वतोभावेन तत्सेवानिष्ठ हैं, और जो परम कारुणिक विश्वकल्याणनिरत हैं उनका उपदेश सचमुच महाभाग्यशालियों को ही उपलब्ध हो सकता है। प्रथम श्लोक से

उन्होंने भगवान् विष्णु का स्वरूप बतलाते हुए नमस्कार व्याज से अनुबन्ध-चतुष्टय दिखाया है :—

"परं परस्याः प्रकृतेरनादिमेकं निविष्टं बहुधा गुहासु।
सर्वालयं सर्वचराचरस्थं त्वामेव विष्णुं शरणं प्रपद्ये" ॥१॥

नित्य अपरोक्ष सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप व्यापनशील परमात्मा को मैं प्रपन्न होता हूँ।

भगवान् विष्णु शेष के लिये कोई परोक्ष वस्तु नहीं हैं, नित्य ही प्राप्त हैं अतएव 'त्वां' शब्द का प्रयोग है। मैं शेष आप परब्रह्म विष्णु को प्रपन्न हूँ अर्थात् आप को ही अपना रक्षकरूप से एवं आश्रयरूप से जानता हूँ। शरण का अर्थ है 'आश्रय' एवं 'रक्षक'। 'शरणं गृहरक्षित्रोः।' (कोष)

आप सर्वकारणभूता प्रकृति से परे हैं, अनादि हैं, एक होते हुए भी विविध-रूपा गुहाओं में प्रविष्ट होकर सर्वालय एवं सर्वचराचरस्थ होकर विराजमान होते हैं।

'वेवेष्टीति विष्णुः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार सर्वव्यापी नित्य अपरोक्ष सच्चिदानन्द परमात्मा ही विष्णु हैं, वे ही प्रत्यक् चैतन्याभिन्न रूप से सर्व वेदनों के अगोचर होते हुए अपरोक्ष हैं। वे ही 'त्वं' पद के लक्ष्यार्थ हैं। उन्हीं प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परब्रह्म विष्णु को अपना रक्षक समझना शरणागति है। 'नैनमविदितो देवो भुनक्ति' यह श्रुति कहती है कि देव अविदित रहकर पालन नहीं करते हैं अतः साक्षात्कृत् देव ही पालक होते हैं। प्राणिमात्र के हृदय में सर्वाधिष्ठान परमानन्द स्वरूप भगवान् विराजमान हैं परन्तु उनको बिना जाने प्राणी संसार में भटक रहा है :—

"व्यापक ब्रह्म बिरज अविनाशी।
सत चेतन घन आनन्द राशी ॥
अस प्रभु अछत हृदय अबिकारी।
फिरहिं जीव जग दीन दुखारी ॥
आनन्द सिन्धु मध्य तव बासा।
बिनु जाने कत मरसि पियासा ॥"

"त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च।
आत्मा पुनर्बहिर्मृग्यः अहोऽज्ञजनताज्ञता ॥"

आत्मा को देहादि समझकर, देहादि अन्य अनात्मा को आत्मा समझकर आत्मा के अन्वेषण के लिये बाहर भटकना जनता की अज्ञता ही है। केवल प्रपत्ति शब्द भी शरणागति का बोधक होता है परन्तु जहाँ शरण शब्द भी संनिहित हो वहाँ तो प्रपत्ति का अर्थ सम्यक् ज्ञान है 'शरणं प्रपद्ये', 'शरणं व्रज' इत्यादि स्थलों में शरण 'रक्षक' जानता हूँ शरण 'रक्षक' जानो। पद्, व्रज् आदि धातु ज्ञानार्थक हैं; जैसे रज्जु के ज्ञान से उसमें कल्पित सर्प एवं तज्जन्य भय मिट जाता है। उसी तरह ब्रह्मात्मतत्त्व ज्ञान से उसमें कल्पित संसार एवं तज्जनित भय की निवृत्ति हो जाती है। जैसे विज्ञात रज्जुतत्व भयनिवर्तक रक्षक होता है उसी तरह अविज्ञात ब्रह्म भय का कारण होता है। वही विज्ञात होकर संसारनिवर्तक रक्षक होता है। यही रक्षकरूप से विष्णु को जानना है। अथवा शरण का अर्थ आश्रय है, जैसे घटाकाश का आश्रय महाकाश होता है, तरङ्ग का आश्रय समुद्र जल होता है, उसी तरह उपाधिपरिच्छिन्न चैतन्यरूप जींव का आश्रय अनवच्छिन्न चैतन्यरूप ब्रह्म है। अतः सर्वाधिष्ठान स्वप्रकाश ब्रह्मरूप नित्य अपरोक्ष विष्णु को मैं अपना भयनिवर्तक रक्षकरूप से एवं आश्रयरूप से निश्चय करता हूँ। यही शरणागति प्रपत्ति सर्वशास्त्रों का सार है—

**"सकृदेव प्रपन्नाय, तमेव शरणं गच्छ, मामेकं शरणं व्रज,
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये, तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये"** । इत्यादि ।

हाँ, यह शरणागति अधिकारी के भेद से विभिन्न प्रकार की होती है। जीव प्रथम परोक्षरूप से ही प्रभु में विश्वास करके उन्हें अपने रक्षक के रूप से वरण करता है। पहले भगवान् के प्रति अपने आपको उनकी श्रुति, स्मृति, लक्षण आज्ञानुसार ठीक अनुकूल बनाने का सङ्कल्प करना, प्रतिकूलता का वर्जन करना, अर्थात् शास्त्रविरुद्ध देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि के सब व्यापारों को छोड़कर शास्त्रानुसार ही देहादि के व्यापारों को बनाना और भगवान् अवश्य रक्षा करेंगे, इस प्रकार का विश्वास करना, और प्रभु का रक्षकत्वेन वरण करना, प्रभु में ही आत्मसमर्पण करके तदधीन होकर दैन्यभाव से प्रभु का चिन्तन करना, यह छः प्रकार की शरणागति है।

आत्मसमर्पण में भी प्रथम भगवान् में आत्मा एवं आत्मीय देहादि का समर्पण होता है, परन्तु अन्त में जैसे घटाकाश अपने आप को उपाधिभङ्ग करके महाकाश में अर्पण करता है उसी तरह सर्वोपाधिबाध करके उपहित प्रत्यक् चैतन्य को अनन्त चैतन्य ब्रह्मस्वरूप प्रभु में अर्पण करना ही मुख्य आत्म-

समर्पण ठहरता है। जैसे घट एवं घटाकाश सभी आकाश से ही वायु आदि के क्रम से उत्पन्न होते हैं। अतः सबका आकाश में विलयन सम्भव है, उसी तरह ब्रह्मात्मतत्त्व से ही प्रतिभासित समष्टि, व्यष्टि, स्थूल, सूक्ष्म, कारणात्मक प्रपञ्च एवं तदुपहित चैतन्य सब का ही विलयन अनन्त चैतन्य में सम्भव होता है। प्रभु की अपरिच्छिन्नता एवं पूर्णता के लिये निजी पृथक् अस्तित्व को समाप्त करना सचमुच उत्तम त्याग है।

साधन, अभ्यास एवं पाक भेद से शरणागति तीन प्रकार की भी होती है। मैं प्रभु का हूँ इस प्रकार की निष्ठा 'साधन शरणागति' है। प्रभु मेरा ही है यह निष्ठा 'अभ्यास शरणागति' है। सर्वोपाधि सर्वपरिच्छेद शून्य प्रभु से भिन्न मेरा अस्तित्व नहीं है, वही मैं हूँ, वही तुम हो, वही सब कुछ है, यह निष्ठा 'पाक शरणागति' है। पहली का उदाहरण है:—

"सत्यपि भेदापगमे नाथ, तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥"

नाथ! मेरा आपका वास्तव भेद न होने पर भी मैं आपका हूँ आप मेरे नहीं। क्योंकि समुद्र तरङ्ग का अभेद होने पर भी समुद्र का तरङ्ग कहलाता है तरङ्ग का समुद्र नहीं कहलाता। दूसरी निष्ठा का उदाहरण है:—

"हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि चेद्यासि पौरुषं गणयामि ते॥"

प्रभो! आप सर्वशक्तिमान् हैं, मुझ से बलात् हाथ छुड़ाकर जा रहे हैं, यह कोई बड़ी बात नहीं, यदि आप मेरे हृदय से चले जायँ तो मैं आपका पौरुष मानूँ।

जैसे द्रवीभूत लाक्षा में निविष्ट रङ्ग उससे पृथक् नहीं हो सकता है इसी तरह द्रवीभूत भक्त के चित्त में प्रविष्ट भगवान् चाहें तो भी निकलने में असमर्थ ही रहते हैं। इस सम्बन्ध में भगवान् की अनन्त ब्रह्माण्डनायकता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता कुण्ठितप्राय रहती है। तभी तो भक्त का आह्वान है— **'हृदयाद्यदि चेद्यासि पौरुषं गणयामि ते।'**

तीसरी निष्ठा का उदाहरण है—

"वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।
सकलमिदमहञ्च वासुदेवः॥"

सब कुछ भगवान् वासुदेव ही हैं। सब संसार तथा मैं सब भगवान् ही हैं। तत्त्वप्रबोध के प्रथम तत्त्वसाक्षात्कार आदि की कुछ कामना भी रहती है। तत्त्व-साक्षात्कार होने पर तो अत्यन्त निष्काम भाव से ज्ञानी प्रभु में भक्ति करता है। भक्ति के लिये ही आहार्यभेद ज्ञान से भगवान् का भजन होता है।

वस्तुतः तत्त्वप्रबोध के पहले ही द्वैतप्रपञ्च मोह का हेतु होता है। तत्त्वप्रबोध होने पर तो द्वैत अद्वैत से भी सुन्दर होता है।

"द्वैतं मोहाय बोधात्प्राक् जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं भावितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥"

पारमार्थिक अद्वैतनिष्ठा होने पर भी भक्ति के लिये द्वैत का समाश्रयण हानिकारक नहीं होता—

"पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे,
तादृशी यदि भक्तिः स्यात्
सा तु मुक्तिशताधिका॥"

प्रेयसी चाहे प्रियतम के उरस्थल पर क्रीड़ा करे, चाहे प्रेमपूर्वक पदयुग-परिचर्या में लीन रहे, दोनों ही अच्छा है। उसी तरह ज्ञानी चाहे अभेदनिष्ठ होकर समाहित हो, चाहे भजन में संलग्न रहे दोनों ही अच्छा है—

"प्रियतमहृदये वा खेलतु प्रेमरीत्या,
पदयुगपरिचर्यां प्रेयसी वा विधत्ताम्।
विहरतु विदितार्थो निर्विकल्पे समाधौ,
ननु भजनविधौ वा तुल्यमेतद्द्वयं स्यात्॥"

इतना ही क्यों, तत्त्वविद् की भजननिष्ठा तो और महत्त्व की होती है। जैसे प्रियतम के साथ अत्यन्त अभिन्नहृदय होने पर भी व्यवहार में प्रेयसी घूँघट के व्यवधान से ही प्रियतम को निहारती है उसी तरह पूर्णतम पुरुषोत्तम से तादात्म्यानुभूति के अनन्तर भी तत्त्ववित् भक्तिभाव के साथ ही प्रभु की पूजा करता है।

"विश्वेश्वरोऽपि सुधिया गलितेऽपि भेदे।
भावेन भक्तिसहितेन समर्चनीयः॥
प्राणेश्वरश्चतुरया मिलितेऽपि चित्ते।
चैलाञ्चलव्यवहितेन निरीक्षणीयः॥"

अस्तु इस तरह सगुण साकार, सगुण निराकार, तथा निर्गुण निराकार इन तीनों ही भगवान् के स्वरूप की शरणागति, ज्ञान तथा साक्षात्कार परम कल्याणकारी है। 'परमार्थसार' में निर्गुण निराकार ब्रह्म का ही प्राधान्येन वर्णन है, अतः तदनुरूप विशेषणों का उपादान है। अपने कार्यों की अपेक्षा प्रकृति पर है परन्तु परब्रह्म विष्णु उस प्रकृति के भी अधिष्ठान, भासक एवं नियामक होने से उससे भी पर हैं। प्रकृति की सत्ता और स्फूर्ति स्वतः सिद्ध नहीं है। उसमें सत्ता और स्फूर्ति देकर ब्रह्म ही उसका प्रेरक होता है। शक्तिमान् से पृथक् शक्ति की स्फूर्ति एवं सत्ता अप्रसिद्ध है ही। परब्रह्म सच्चिदानन्द एकरस होने पर भी अपनी मायाशक्ति का आश्रयण करके महदादिमय समष्टि, व्यष्टि, देह एवं तद्धर्मविशिष्ट होकर भासमान होता है।

यद्यपि ब्रह्म के समान ही प्रकृति भी अनादि है तथापि वह एक एवं स्वतन्त्र है, प्रकृति तो अनेकात्मक और अस्वतन्त्र है। प्रकृति अचेतन है। भगवान् चेतन हैं।

"अजामेकांलोहितशुक्लकृष्णां, बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥"

श्रुति के अनुसार प्रकृति भी अजा अनादि है। लोहित, शुक्ल, कृष्ण, अङ्ग-वाली है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति में रञ्जनात्मक होने से रज लोहित, प्रकाशक होने से सत्व शुक्ल, तथा आवरणात्मक होने से तम कृष्ण रङ्ग का समझा जाता है। वह लोहित, शुक्ल, कृष्णा त्रिगुणा प्रकृति अपने समान रूपवाले ही त्रिगुणात्मक महदादि प्रपञ्च की सृष्टि करती है। अर्थात् महदादि रूप में स्वयं ही परिणत होती है। कुछ अज जीव उसी प्रकृति का उपभोग करते हुए उसका अनुगमन करते हैं। कुछ भाग्यशाली अज प्रकृति के द्वारा ही भोग अपवर्ग सम्पादन करके कृतार्थ होकर उससे विरक्त हो जाते हैं। कुछ लोग अविच्छिन्न पारम्पर्य होने के कारण क्षेत्र को ही अनादि प्रकृति कहते हैं। अनादि प्रपञ्चाध्यास ही अनादि प्रकृति है। इस पक्ष में 'अजामेकाम्' इस श्रुति के द्वारा रूपकविन्यास है, लोहित, शुक्ल, कृष्ण रङ्ग की कबरी बकरी का आरोप त्रिगुणात्मिका प्रकृति या तेज, अप्, अन्नस्वरूपा प्रकृति में किया गया है। जैसे कबरी बकरी अपने समान ही कबरे बच्चे पैदा करती है, उसी तरह त्रिगुणात्मिका प्रकृति त्रिगुणात्मक महदादि प्रपञ्च का निर्माण करती है। जैसे कुछ बकरे उस अजा का सेवन करते हुए अनुगमन करते हैं, कुछ उससे भोग

प्राप्त करके भुक्तभोगा अजा को छोड़ देते हैं, वैसे ही अकृतार्थ जीव प्रकृति के भोगों में आसक्त होकर उसका अनुसरण करते रहते हैं। परन्तु कोई धीर पुरुष प्रकृति द्वारा देहादि प्राप्त करके उसके उपयोगी भोग लेकर तथा उसी के द्वारा विवेक, विज्ञान तथा अपवर्ग प्राप्तकर उससे विरक्त हो जाते हैं। श्रुति महान् से अव्यक्त को और उस अव्यक्त से भी ब्रह्म को पर कहती है—**'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषःपर।'**

वही अन्तिम है उससे पर और कुछ नहीं है—**'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः।'**

एक का अर्थ अद्वितीय भी है। अतः उसी की स्वतः सत्ता और स्वतः स्फूर्ति होती है—**'अथ नित्यो देव एको नारायणः।'** यह श्रुति भी नारायण को एक एवं नित्य कहती है।

कहा जाता है कि श्रुतियों में जीवों का बहुत्व ही स्पष्ट है फिर ब्रह्म का एकत्व कैसे सिद्ध होगा? परन्तु इसी लिये कहा गया है कि माया एवं तत्परिमाणभूत बुद्धिरूपा गुहा में प्रविष्ट होकर अनेक देव, मनुष्य आदि रूप से भासमान होने पर भी वस्तुतः एक ही हैं। माया दुर्ज्ञेय होती है। इसी लिये उसे गुहा कहते हैं। **'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'**, श्रुति कहती है इन्द्र-परमात्मा माया वृत्तियों से अनेक रूप में प्रतीत होता है।

फिर भी कहा जा सकता है यदि मायारूप उपाधि वास्तविक तत्त्व है तब तो फिर एकत्व असिद्ध ही है? परन्तु इसी का समाधान करने के लिये कहा गया है **'सर्वालयम्'**, अर्थात् सर्वप्रपञ्च का आत्मा अधिष्ठान है। उसी की सत्ता से उपाधियाँ भी सत्ता स्फूर्ति सम्पन्न होती हैं। अतः स्वतः उनका पृथक्त्व नहीं है। सर्वालय होते हुए सब चराचर में वही निविष्ट है। अर्थात् सब भूत अध्यस्त रूप से उसमें हैं और सबमें अधिष्ठान रूप से, कारण रूप से वही अनुस्यूत है।

एतावता ब्रह्मात्मैकत्व ही 'परमार्थसार' का विषय है। वही अज्ञात होकर विषय एवं विज्ञान होकर प्रयोजन है। उसका जिज्ञासु ही इसका अधिकारी है। ग्रंथ का विषय के साथ प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है।

ब्रह्माण्ड पुराण में कहा गया है—

"स्थूलं विलाप्यकरणे करणं निदाने,
तत्कारणं करणकारणवर्जिते च।
इत्थं विलाप्य यमिनः प्रविशन्ति यत्र,
तं त्वां हरिं विमल बोधघनं नमामः" ॥

स्थूल प्रपञ्च को सूक्ष्म करणसमूह में, करणसमूह को कारण में, कारण को कार्यकारण वर्जित शुद्ध ब्रह्म में प्रविलीन करके जिस विमल बोधघन स्वरूप ब्रह्म में यति लोग प्रवेश करते हैं, उन हरि को मैं प्रणाम करता हूँ।

कहा जाता है यदि आत्मा ही ब्रह्म है तब तो सभी को 'मैं ब्रह्म हूँ', ऐसा अनुभव होना चाहिये। परन्तु लोगों को 'मैं मनुष्यादि हूँ' यही अनुभव होता है। इसका समाधान यही है कि विचार विना किये ही उक्त अनुभव होता है।

"आत्माम्बुराशौ निखिलोऽपि लोको
मग्नोऽपि नाचामति नेक्षते च।
आश्चर्यमेतन्मृगतृष्णिकाभे
भवाम्बुराशौ रमते मृषैव" ॥२॥

सम्पूर्ण लोक (जीववर्ग) परमात्मास्वरूप अमृताम्भोधि में निमग्न होने पर भी 'नाचामति' उसका अनुभव नहीं करता और न उसपर विचार ही करता है, प्रत्युत मिथ्याभूत भवाम्बुराशि (संसार हेतुभूत देहादि) में भ्रान्ति से ही रमण करता है। अर्थात् उसी में आत्मबुद्धि करता है। यही आश्चर्य है। जो वस्तु सम्भव न होने पर भी भासमान होती है वह मायामात्र है। विष्णु के निज स्वरूप का तिरोधान करके रूपान्तर का प्रकाशन करनेवाली शक्ति ही माया है। वही माया प्रकृति है। उसके विवेक के साथ आत्मा के सम्बन्ध में जिज्ञासा किस प्रकार उदित होती है, इसी सम्बन्ध में कहा गया है—

"गर्भवाससम्भव जन्मजरामरणविप्रयोगाब्धौ।
जगदालोक्य निमग्नं, प्राह गुरुं प्राञ्जलिः शिष्यः" ॥३॥

साधक अपने आप और समस्त जीव लोक को गर्भगृह-वासप्राप्ति, जन्म, मरण एवं कलत्र पुत्र वित्तादि इष्ट विप्रयोग-समुद्र में निमग्न देख उत्तितीर्षा से किसी तत्वज्ञ गुरु से करबद्ध प्रश्न करता है। श्रुति भी कहती है कि ब्रह्मविज्ञान के लिये समित्पाणि होकर गुरु की शरण जाना चाहिये।

भाव यह है कि पूर्व के अनेक जन्मों में यज्ञ, दान, तप आदि कर्मों के अनुष्ठान से विशुद्धान्तःकरण साधक वेदान्त वाक्यों से विशिष्ट विचार बिना भी विधिपूर्वक साङ्ग वेदाध्ययन के माध्यर्म से इतना जान लेता है कि आत्मा ही नित्य है। तद्भिन्न सब अनित्य है। पुत्रकलत्रादि संसार सुखाभासमात्र हैं, वस्तुतः दुःख ही है। अतः सांसारिक सुखाभास से विरक्त एवं शम, दमादि से सम्पन्न होकर आत्मज्ञ जीवन्मुक्त के पास जाकर प्रश्न करता है—

"त्वं साङ्गवेदवेत्ता, भेत्ता, संशयगणस्य ऋतवक्ता।
संसारार्णवतरणप्रश्नं, पृच्छाम्यहं भगवन्" ॥४॥

भगवन्! आप साङ्ग वेद के वेत्ता हैं और संशय समूह के भेत्ता भी हैं। साथ ही संपूर्ण वेदान्तार्थभूत आत्मतत्व के वक्ता हैं। अतः मैं संसार समुद्र की उत्तितीर्षा से प्रश्न पूछता हूँ।

"दीर्घेऽस्मिन् संसारे, संसरतः कस्य केन सम्बन्धः।
कर्म शुभाशुभफलदम् अनुभवति गतागतैरिह कः" ॥५॥

इस दीर्घ (अनादि) संसार में भटकते हुए संसारी प्राणियों का किस हेतु से संसार सम्बन्ध है। यदि संसार स्वाभाविक होता तब तो अग्नि की उष्णता के तुल्य उसकी निवृत्ति ही असम्भव होती। यदि सहेतुक सम्बन्ध है तब तो हेतु यदि सत्य है तो संसार भी सत्य होना चाहिये। फिर उसकी निवृत्ति कैसे? यदि असत्य है तब तो खपुष्पादि के तुल्य कार्यकारण भाव ही नहीं सङ्गत हो सकेगा। इसी तरह लोकत्रय में शुभाशुभ फल देनेवाले कर्म का अनुभव कौन करता है? शुद्ध आत्मा का संसरण तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह व्यापक एवं निरञ्जन है। अतः एक लोक से अन्य लोक की प्राप्ति एवं कर्मफल सम्बन्ध उसमें सम्भव नहीं। साङ्ख्ययोग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा आदि शास्त्र आत्मा को व्यापक ही मानते हैं। मध्यम परिमाण एवं सङ्कोच-विकाशशाली मानने पर उसमें अनित्यता अवश्य प्रसक्त होगी। अणुपरिमाण आत्मा एवं सङ्कोच विकाशशाली ज्ञान उसका गुण माना जायगा तो भी उसकी अनित्यता होगी। नित्यव्यापी ज्ञान गुण मानने पर तो उसी को आत्मा मानना उचित है।

अस्तु, व्यापक एवं असङ्ग आत्मा में संसार नहीं बन सकता। प्रकृति का भी संसरण नहीं हो सकता, क्योंकि वह अचेतन है। उसमें भोगादि सम्भव नहीं। अतः प्रकृतिमोहित प्राणी (जीव) कर्मगुणजालबद्ध होकर उसी तरह

संसारी बनता है जैसे कोशकार कृमि स्वनिर्मित कोश से निबद्ध होता है। यही कहा गया है—

"कर्मगुणजालबद्धो जीवः संसरति कोशकार इव।
मोहान्धकारगहनात्, तस्य कथं बन्धनान्मोक्षः" ॥६॥

जैसे उर्णनाभि (मकड़ी) स्वनिर्मित जाल द्वारा स्वयं निबद्ध होती है वैसे ही कर्मरज्जुमय जाल से बँधा हुआ, अथवा कर्म एवं सत्त्वादि गुणमय जाल से निबद्ध जीव संसरण करता है, और देहादि सम्बन्ध को प्राप्त करता है। अब यह प्रश्न उठता है कि वह जीव यदि परमेश्वर ही है तो मायातीत है—उसमें संसार बन नहीं सकता। यदि अन्य है तो एकत्वबोधक श्रुतियाँ बाधित होती हैं। यदि स्वमाया से जीवभाव को प्राप्त होकर पुरुष ही संसारी होता है तो मोहरूपी अन्धकार ही दुरुच्छेद बन्धन है, उससे किस प्रकार मोक्ष सम्भव है?

यदि कहा जाय कि गुणपुरुषविवेक ज्ञान से पुरुष में धर्माधर्म बन्धक न होंगे, तो यह भी कैसे? क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विवेक का मोक्षफल कैसे? साथ ही गुणात्मिका प्रकृति एवं पुरुष क्या हैं।

"गुणपुरुषविभागज्ञे धर्माधर्मौ न बन्धकौ भवतः।
इति गदितपूर्ववाक्यैः प्रकृतिं पुरुषञ्च मे ब्रूहि" ॥७॥

मञ्जूषाकार आदि संसार को 'प्रवाह-न्याय' से ही अनादि मानते हैं। उनके अनुसार प्रकृति अध्यासरूपा अविद्या ही है, वह भी प्रवाहरूप से अनादि है। इस पक्ष में जीव भी सादि एवं जन्य है, पर उपाधिवैशिष्ट्य रूप से। विशेष्यांश की दृष्टि से नित्य है। जैसे लोहस्थ अग्नि से अनेक विस्फुलिङ्ग अग्निकण उत्पन्न होते हैं वैसे ही ईश्वर से चित्कण जीव उत्पन्न होते हैं। जैसे एक ही दिनकर अनेक सलिलपूर्ण घटादि में प्रतिबिम्ब रूप से व्यवस्थित होता है, उसी तरह समस्त उपाधियों में परमात्मा व्यवस्थित है।

"यद्वद्दिनकर एको विभाति सलिलाशयेषु सर्वेषु।
तद्वत् सकलोपाधिष्ववस्थितो भाति परमात्मा" ॥८॥

इस प्रकार शिष्य के प्रश्न को सुनकर उत्तर देते हुए भगवान् जगदाधार शेष ने कहा—यद्यपि यह वक्तव्य विषय अत्यन्त गहन है तथापि तुम सावधान होकर सुनो।

"इत्याधारो भगवान्, पृष्टः शिष्येण तं स होवाच।
विदुषामप्यतिगहनम् वक्तव्यमिदं शृणु तथापि त्वम्॥
सत्यमिव जगदसत्यं, मूलप्रकृतेरिदं कृतं येन।
तं प्राणिपत्योपेन्द्रं वक्ष्ये परमार्थसारमिदम्" ॥ ६ ॥

जिन्होंने अपनी मायाशक्तिरूप मूलप्रकृति के द्वारा सत्य के तुल्य प्रतीयमान इस असत्य जगत् को (सत्यवत्) रचा है, उन उपेन्द्र भगवान् विष्णु को श्रद्धा भक्तिपूर्वक प्रणाम करके मैं परमार्थसार अर्थात् उपनिषत् सार-सर्वस्व कहता हूँ।

सत्त्वासत्त्व विलक्षण अनिर्वचनीय मायाशक्ति से निर्मित होने के कारण जगत् भी अनिर्वचनीय है। सत् स्वरूप ब्रह्म की शक्ति सत् तथा अत्यन्तासत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय परन्तु अनादि है। दूसरे लोग ब्रह्म भिन्न सब वस्तु को ब्रह्म का कार्य ही मानते हैं। अतएव 'तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्य' इस न्याय से सब की ब्रह्माभिन्नता सिद्ध होती है। दूसरे पक्ष के लोग शक्ति की सद्विलक्षणता से ही सत् की अद्वितीयता-सिद्धि मानते हैं।

"अव्यक्तादण्डमभूदण्डाद् ब्रह्मा ततः प्रजासर्गः।
मायामयी प्रवृत्तिः संह्रियत इयं पुनः क्रमशः" ॥१०॥

साधिष्ठान प्रकृति या प्रकृतिविशिष्ट ब्रह्म से ईक्षणपूर्वक महदादि क्रमेण अण्ड की उत्पत्ति हुई। पुरुषानुप्रविष्ट उस अण्ड से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। उसी ब्रह्मा से चराचर प्रजा की उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार यह मायामयी अर्थात् मायोपाधिक पुरुषप्रकृति (कार्यसृष्टि) होती है। ईश्वरेच्छानुसार ही इसका उपसंहार होता है। यही बात—

नारायणः परोऽव्यक्तादण्डमव्यक्तसम्भवम्।
अण्डस्यान्तस्त्विमे लोकाः सप्तदीपा च मेदिनी॥

से कही गयी है। यहाँ स्वतन्त्र अव्यक्त से प्रपञ्चोत्पत्ति नहीं कही गयी है। इसी लिये—'सत्यमिव जगदसत्यं मूलप्रकृतेरिदं कृतं येन', इत्यादि पूर्व कथन सङ्गत होता है।

अतएव सांख्य का, स्वतन्त्र प्रकृति जगत्कर्त्री है, यह मत यहाँ अभिप्रेत नहीं है। किंतु स्वमाया शक्ति के द्वारा परमात्मा ही विश्वप्रपञ्च रूप से विवर्तित होता है यही कहा गया है। यही कारण है श्रुति आत्मा से आकाशादि प्रपञ्च की सृष्टि कहती है—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'।

इस तरह प्रकृति मायाशक्ति एवं पुरुष शक्तिमान् ईश्वर ही सम्पूर्ण जगत् का कारण कहा गया है। एक ही पुरुष माया में प्रविष्ट हो 'अन्तर्यामी' होता है, मायाकार्य देहादि में प्रविष्ट होकर 'जीव' होता है। प्रथम आठ श्लोकों के द्वारा जीव का स्वरूप कहा गया है।

"मायामयोऽप्यचेता, गुणकरणगणः करोति कर्माणि।
तदधिष्ठाता देहः सचेतनोऽपि, न करोति किञ्चिदपि" ॥११॥

मायामय मायाशक्ति विशिष्ट परमेश्वर का विवर्तभूत कार्यकरण सङ्घात गुणों एवं करणों का समुदाय अचेतन होता हुआ भी विविध कर्मों का कर्ता होता है। उसका आश्रयभूत जीव चतन होता हुआ भो कुछ नहीं करता है क्योंकि व्यापक चिदेकरस में चलन रूप कर्म नहीं हो सकता।

कहा जा सकता है अचेतन अतएव निश्चेष्ट कार्यकरण संघात की प्रवृत्ति कैसे बन सकती है। परन्तु इसका समाधान स्वयं ही भगवान् शेष करते हैं—

"यद्वदचेतनमपि सन्निकटस्थे, भ्रामके भ्रमति लोहम्।
तद्वत् करणसमूहश्चेष्टति चिदधिष्ठिते देहे" ॥१२॥

जैसे भ्रामक अयस्कान्त मणि के निकट रहने पर स्वतः अचेतन निश्चेष्ट भी लोह सचेष्ट होता है, उसी तरह देह के चिदधिष्ठित होने पर 'मैं मनुष्य हूँ' इस प्रकार चित् का देहादि के साथ आध्यासिक संसर्ग होने पर करणसमूह सचेष्ट होता है।

कहा जाता है कर्मों में आत्मा का साक्षात् कर्तृत्व नहीं। परन्तु हेतु कर्तृत्व कारण देहादि कर्तृत्व अर्थात् कारयितृत्व तो सिद्ध ही है। जिसके कारण देहादि में कर्तृत्व आता है उसे कारयिता तो कहा ही जा सकता है। परन्तु इसी का समाधान करते हुए भगवान् शेष कहते हैं—

"यद्वत् सवितर्य्युदिते, करोति कर्माणि जीवलोकोऽयम्।
न तानि करोति रविर्न कारयति तद्वदात्माऽपि" ॥१३॥

जैसे सम्पूर्ण जीवलोक सविता के उदित होने पर अपने अपने अभिमत कर्मों को करने लग जाता है। भगवान् सूर्य न उन कर्मों के कर्ता होते हैं और न कारयिता ही होते हैं। उसी तरह देह में आत्मा के प्रवेश या प्राकट्य होने मात्र से गुणकरणगण कर्म करने लगते हैं। आत्मा न उन कर्मों का कर्ता है और न कारयिता ही है। भगवद्गीता में भी यही कहा गया है—'नवद्वारे

पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।' आत्मा देह में रहता हुआ भी कर्ता कारयिता नहीं होता है। '**न कर्त्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः**' आत्मा लोक के कर्तृत्व या स्रष्टा नहीं है और न कर्मों का ही स्रष्टा है अर्थात् न वह कारयिता है न कर्ता ही है।

पञ्चम श्लोक में—'**कर्म शुभाशुभफलदमनुभवति गतागतैरिह कः**', इसके द्वारा यह प्रश्न उठाया गया है कि 'इन तीनों लोकों में लोक लोकान्तर गमनपूर्वक शुभ एवं अशुभ फलद कर्मों का अनुभव कौन करता है'। इसी के उत्तर में भगवान् शेष ने कहा है—

"मनसोऽहङ्कारविमूर्छितस्य चैतन्य बोधितस्येह।
पुरुषाभिमान सुखदुःख, भावना भवति मूढस्य" ॥१४॥

इसका भाव यही है कि माया का कार्य मन स्वतः अचेतन होता हुआ भी स्वदातात्म्यापन्न आत्मचैतन्य से प्रकाशित होकर वस्तुतः 'अहं' प्रत्यय का आस्पद न होता हुआ भी 'अहं' प्रत्यय का आस्पद हो जाता है। इसी लिये 'पुरुषोऽहं', 'दुःखी अहं', 'सुखी अहं' आदि अभिमान होता है। फिर परिणाम यही निकलता है—

कर्त्ता भोक्ता द्रष्टास्मि कर्मणामुत्तमादीनाम्।
इति तत् स्वभाव विमलोऽभिमन्यते सर्वगोऽप्यात्मा" ॥१५॥

अर्थात् यत चैतन्यानुप्रविष्ट मन को 'पुरुषोऽहं' आदि अभिमान होता है अतः स्वभावविमल सर्वगामी भी आत्मा—'मैं प्रमाता हूँ, मैं श्रौत स्मार्त्तलक्षण कर्मों का अनुष्ठाता हूँ, और स्वानुष्ठित कर्मों के फलों का भोक्ता हूँ' आदि अभिमानयुक्त होता है। यद्यपि सर्वव्यापक होने से आत्मा का विषय विशेष प्रमातृत्व, क्रमद्रष्टृत्व, और स्वभावविमल होने से कर्मानुष्ठातृत्व कर्मफलभोक्तृत्व सङ्गत नहीं होता, तथापि पुर्यष्टक (अविद्या, काम, कर्म, मन, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राण, भूत) में तादात्म्याध्यास होने से इस ढङ्ग के सभी अध्यारोप आत्मा में सम्भव होते हैं।

पुर्यष्टक तादात्म्याध्यास के क्रम से क्रमशः स्थूल देहसम्बन्ध द्वारा सुर, नर, आदि योनियाँ भी आत्मा को प्राप्त होती हैं। इसे स्पष्ट करने की दृष्टि से कहा—

"नानाविधवर्णानां वर्णं धत्ते यथाऽमलः स्फटिकः।
तद्वदुपाधेर्गुणभावितस्य भावं विभुर्धत्ते" ॥१६॥

अर्थात् जैसे लोक में स्वच्छ स्फटिक स्वसन्निहित जपाकुसुम आदि के लौहित्य प्रतिबिम्ब से 'लोहितः स्फटिकः' इस प्रतीति का विषय होता है, वैसे ही आत्मा भी प्रकृति के द्वारा प्रकाशित देहादिलक्षण उपाधि के धर्म देवत्व, मनुष्यत्व आदि से उपेत प्रतीत होता है।

सर्वव्यापक भी आत्मा उपाधिवश से देह से देहान्तर में, लोक से लोकान्तर में जाता है। इसे भगवान् शेष उपपन्न करते हैं—

"गच्छति गच्छति सलिले, दिनकरबिम्बं स्थिते स्थितिं याति ।
अन्तःकरणे गच्छति, गच्छत्यात्मापि तद्वदिह" ॥१७॥

जैसे इस लोक में जल प्रतिबिम्बत सूर्यबिम्ब चलनविशिष्ट जलक्रिया में चलता हुआ सा और स्थितिविशिष्ट जल में स्थित सा प्रतीत होता है, वैसे ही अन्तःकरण प्रतिबिम्बित आत्मा भी अन्तःकरण के चलन या स्थिति में चलता हुआ सा या स्थित सा प्रतीत होता है।

ऐसे ही आत्मा में दृश्यत्व, अदृश्यत्व भी उपाधि सम्बन्ध से ही हैं। इसे उपपन्न करते हुए कहा है—

"राहुरदृश्योऽपि यथा, शशिबिम्बस्थः प्रकाशते जगति ।
सर्वगतोऽपि तथात्मा, बुद्धिस्थो दृश्यतामेति" ॥१८॥

जैसे तमःस्वभाव राहु स्वयं अदृश्य होता हुआ भी चन्द्रबिम्ब में प्रतिबिम्बित होने पर दृश्य हो जाता है, वैसे ही सर्वव्यापक अदृश्य आत्मा बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर दृश्य अर्थात् अहं प्रत्यय का विषय हो जाता है। भगवत्पाद श्री शङ्कराचार्य जी ने भी कहा है—**'न तावदयमेकान्तेनाविषयः, अस्मत् प्रत्ययविषयत्वात् ।'**

अब यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि आत्मा में प्रमातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि औपाधिक ही है तो उसका निजी वास्तव रूप क्या है? इसके उत्तर में भगवान् शेष ने कहा है—

"सर्वगतं निरुपममद्वैतं तच्चेतसा गम्यम् ।
यद् बुद्धिगतं ब्रह्मोपलभ्यते शिष्य बोध्यं तत् ॥१९॥

अर्थात् हे शिष्य! यतः आत्मस्वरूप ब्रह्म बुद्धिगत होकर ही चित्त के द्वारा अस्मत् प्रत्यय विषयत्वेन उपलब्ध होता है, अतः वह देश, काल, वस्तु-

परिच्छेदशून्य, परमानन्द स्वरूप, एवं सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदशून्य चिदेकरस है, यही समझना चाहिये।

अब उपर्युक्त कारिका में उपात्त बुद्धि शब्द से अन्तःकरणमात्र नहीं अपितु सूक्ष्म शरीर विवक्षित है, इसे इस कारिका से स्पष्ट करते हैं—

"बुद्धि मनोऽहङ्कारास् तन्मात्रेन्द्रियगणाश्च भूतगणः।
संसारसर्गपरिरक्षणक्षमाः प्राकृता हेयाः" ॥२०॥

अर्थात्, बुद्धि = महत्तत्व, मन = अन्तःकरण, अहङ्कार = अहंतत्व, तन्मात्रा = शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इन्द्रियगण = पञ्च ज्ञानेन्द्रिय (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण), पञ्चकर्मेन्द्रिय (वाक्, पाणि, पाद, वाहु, उपस्थ), भूतगण = आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी आदि सभी प्राकृत तत्त्व संसार के सर्जन, उत्पादन एवं परिरक्षण के लिये मायाकल्पित हैं, अतः सर्वथा हेय हैं और पारमार्थिक वस्तु केवल ब्रह्म ही ज्ञेय है।

'धर्माधर्मौ सुखदुःख कल्पना स्वर्गनरकवासश्च।
उत्पत्तिनिधनवर्णाश्रमा न सन्तीह परमार्थे" ॥२१॥

जैसे स्फटिक में लौहित्य औपाधिक है वास्तविक नहीं, वैसे ही परमार्थतः आत्मतत्त्वविचार करने पर आत्मा में शुभ कर्म संस्काररूप धर्म, अशुभ कर्म संस्काररूप अधर्म, उनके फलभूत सुख, दुःख आदि की अनुभूति, सुख-दुःखानुभव के लिये स्वर्ग, नरकवास और धर्म एवं अधर्म के उद्भव स्थान इस लोक में उत्पत्ति, निधन, वर्ण, आश्रम आदि सभी कुछ वस्तुगत्या नहीं हैं।

इस पर यह प्रश्न स्वाभाविक है कि वस्तुगत्या असत् धर्म, अधर्म आदि का भान आत्मा में कैसे होता है। इस पर भगवान् शेष कहते हैं—

"मृगतृष्णायामुदकं, शुक्तौ रजतं, भुजङ्गमो रज्ज्वाम्।
तैमिरिकचन्द्रयुगवद् भ्रान्तं निखिलं जगद्रूपम्" ॥२२॥

जैसे मृगतृष्णा अर्थात् मरुभूमि में स्थित मध्याह्नकालीन सूर्य के रश्मि-मण्डल में जल की प्रतीति, शुक्ति में रजत की प्रतीति, रज्जु में सर्प की प्रतीति और चक्षुगत तिमिरदोष के कारण आकाश में चन्द्रयुगल की प्रतीति वास्तविक नहीं भ्रममात्र सिद्ध है, अतएव मिथ्या है। क्योंकि उसे सत्य मानने पर बाध की अनुपपत्ति, असत्य मानने पर प्रत्यक्ष भान की अनुपपत्ति, सत्य असत्य उभयरूप

मानने पर परस्पर व्याघात की आपत्ति होने से सत्य असत्य दोनों रूप से निर्वचन करने के अयोग्य ही मानना होगा, वैसे ही; नाम, रूप, क्रियात्मक समस्त जगत् भी भ्रममात्र सिद्ध है और अविद्यावशात् आत्मा में अध्यस्त है। मृगतृष्णा, शुक्ति में रजत आदि कई उदाहरणों का प्रदर्शन इसी लिये किया गया है कि उपर्युक्त रूप में जगत् की मिथ्यात्वप्रतीति कहीं अप्रसिद्ध न ठहर जाय। अपने यहाँ ब्रह्म से अतिरिक्त समस्त जगत् दृश्य होने से ही मृगतृष्णा आदि की तरह मिथ्या माना जाता है। 'अधिष्ठानभूत ब्रह्मतत्त्वज्ञान बाध्यता' ही मिथ्यात्व है।

अब यहाँ एक प्रश्न उठता है कि दृश्यत्व हेतु से समस्त जगत् में मिथ्यात्व सिद्ध किया जाता है। उसके अनुसार 'विवादास्पदं मिथ्या, दृश्यत्वात् मृगतृष्णिकोदकादिवत्' यही मिथ्यात्व के अनुमान का आकार है। यह अनुमान भी ब्रह्मातिरिक्त समस्त जगत् के अन्तर्गत होने से स्वयं भी मिथ्या है, ऐसी स्थिति में स्वव्याघात हुआ। इसके उत्तर में यही कहना है कि स्वव्याघातकता इष्ट ही है। जैसे ब्रह्म में समस्त द्वैत का प्रतिषेध करनेवाले 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' आदि आगम द्वैतप्रपञ्च में अन्तर्भूत स्वयं का भी निषेध करते हैं, वैसे ही अनुमान भी समस्त जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध करता हुआ स्वयं भी मिथ्या सिद्ध होता है। इस ढङ्ग की स्वव्याघातकता लोक में भी स्पष्ट है। जल का नाशक अग्नि स्वयं का भी नाशक होता है। मिथ्या वस्तु तात्त्विक वस्तु का प्रत्यायक कैसे हो सकता है? यह प्रश्न तो उठ ही नहीं सकता क्योंकि अद्वैतवादियों की दृष्टि में तात्त्विक वस्तु एक आत्मा ही है और वह स्वयंप्रकाश होने से प्रमाणान्तर से स्वप्रत्यायन की अपेक्षा ही नहीं करता। आगम आदि प्रमाण तो मिथ्याभूत अविद्या का अपनयनमात्र करते हैं न कि तात्त्विक आत्मा का प्रत्यायन। मिथ्याभूत अविद्या का अपनयन तो मिथ्याभूत आगमादि प्रमाण से संभव ही है, क्योंकि लोक में स्वप्नदृष्ट मिथ्याभूत सिंह के द्वारा स्वाप्निक प्रपञ्च का समूल अपनयन स्पष्ट है।

इसके अतिरिक्त मिथ्याभूत वस्तु के द्वारा तत्वप्रत्यायन भी सम्भव है। लोक में स्पष्ट देखा जाता है कि दर्पणगत मुख प्रतिबिम्ब स्वयं मिथ्या होता हुआ भी तात्विक मुख के अवयव विशेषों का प्रत्यायक होता है, स्वाप्निक कामिनीदर्शन से सम्पत्ति प्राप्ति का बोध होता है। जैसा कि इस वचन से स्पष्ट है—

'यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति।
समृद्धिं तत्र जानीयात्……………॥'

अर्थात् काम्यकर्मानुष्ठान के समय स्वप्न में स्त्रीदर्शन अभीष्ट सिद्धि का बोधक समझना चाहिये। ऐसे ही प्रतिमा आदि में विष्णु आदि देवदृष्टि मिथ्या होती हुई भी तत्वज्ञान का कारण है इसे सभी मानते हैं। अतः प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान सर्वथा निर्दुष्ट है अन्यथा प्रपञ्च को तात्त्विक मानने पर मोक्ष का अत्यन्ताभाव ही प्रसक्त होगा जो कथमपि इष्ट नहीं है।

'अहं' प्रत्यय का विषय होने से आत्मा भी दृश्य है अतएव मिथ्या है। ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि आत्मा की 'अहं' प्रत्यय विषयता बुद्धि सम्बन्ध से औपाधिक है, वस्तु दृष्टया तो केवल आत्मा कभी भी 'अहं' प्रत्यय का विषय होता ही नहीं।

लोक में प्रति व्यक्ति सुखानुभव एवं दुःखानुभव में वैलक्षण्य प्रत्यक्ष उपलब्ध है। ऐसी स्थिति में सुख दुःख के अनुभविता आत्मा को प्रतिव्यक्ति विलक्षण नाना क्यों न माना जाय। इसका निराकरण करने की दृष्टि से प्रतिव्यक्ति परस्पर विलक्षण नाना आत्मा की प्रतीति को भ्रम सिद्ध करने के लिये भगवान् शेष ने कहा—

"यद्वद् दिनकर एको, विभाति सलिलाशयेषु सर्वेषु।
तद्वत् सकलोपाधिष्ववस्थितो भाति परमात्मा" ॥२३॥

जैसे एक ही सूर्य विभिन्न जलाशयों में अवस्थित होकर अनेकधा प्रतीत होते हैं वैसे ही कार्यकारण सङ्घातरूप विभिन्न उपाधियों में अवस्थित एक ही परमात्मा अनेकधा प्रतीत होते हैं। भगवती श्रुति भी कहती है—

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः, सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा'।
(श्वे० ६।११)

स्मृति भी—'एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' ॥

इस तरह जब परमात्मा ही जीवात्मा रूप में प्रतिशरीर विद्यमान है तब 'मनुष्योऽहम्' यह बुद्धि सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण ही है। इसे सिद्ध करते हुए भगवान् शेष ने कहा—

"खमिव घटादिष्वन्तर् बहिः स्थितं ब्रह्म सर्वपिण्डेषु।
देहेऽहमित्यनात्मनि, बुद्धिः संसारबन्धाय" ॥२४॥

जैसे घट आदि के भीतर बाहर आकाश वर्तमान है वैसे ही सभी देह के भीतर बाहर ब्रह्म विद्यमान है, अतः देह की अनात्मता स्वयं सिद्ध है। ऐसी स्थिति में अनात्मभूत देह में 'अहं मनुष्यः' 'अहं गौरः' आदि प्रतीति भ्रम है, और संसार का कारण है।

आत्मा का वस्तुतः स्वरूप है क्या ? इस पर भगवान् शेष की उक्ति है—

"सर्वविकल्पनहीनः, शुद्धो बुद्धोऽजरामरः शान्तः।
अमलः सकृद्विभातश्चेतन आत्मा खवद्व्यापी" ॥२५॥

सभी संशयों का साक्षी होने से आत्मा सभी विकल्पों (संशयों) से रहित है। त्वक्, मांस पिण्डादि से असंसक्त होने के कारण आत्मा शुद्ध है। जड़ होने से प्राणादि आत्मा नहीं है। आत्मा विशुद्ध बोधस्वरूप है। सुषुप्ति में मन नहीं रहता अतः वह विनश्वर है इसलिये वह आत्मा नहीं है। आत्मा अजर अमर है। अविच्छिन्न प्रवाह होने से बुद्धि सन्तान को भी आत्मा नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह भी जन्मादि विकारवान् है और आत्मा सभी विकारों का द्रष्टा होने से निर्विकार है। संवृतिलक्षण मल से आवृत होने के कारण शून्य भी आत्मा नहीं हो सकता कारण आत्मा सभी आवरणों का साक्षी है। और वह नित्य ज्ञान रूप है। दृश्य घटादि से व्यतिरिक्त चेतन आत्मा परमात्मा ही है तथा सर्वदेश काल और वस्तुओं में अनुगत है।

"रस फाणित शर्करिका, गुड खण्डा विकृतयो यथैवेक्षोः।
तद्वदवस्था भेदाः, परमात्मन्येव बहुरूपाः ॥२६॥
विज्ञानान्तर्यामि, प्राण विराड् देह जाति पिण्डान्ताः।
व्यवहारा स्तस्यात्म न्येतेऽवस्था विशेषाः स्युः" ॥२७॥

जैसे गन्ने की रस, राब, शक्कर, गुड़, चीनी आदि अनेक विकृतियाँ होती हैं, वैसे ही एक ही परमात्मा में परस्परविलक्षण विज्ञान (चित् अचित् भेद को अप्राप्त ज्ञान), अन्तर्यामी (सर्वनियमनकर्ता), प्राण (माया में प्रतिबिम्बित जीव), विराट् देह (समष्टि शरीर), जाति पिण्ड (देवत्व-मनुष्यत्व-पशुत्व-पक्षित्वादि जातिभेदयुक्त व्यष्टि शरीर) आदि अवस्थाविशेष रूप व्यवहार होते हैं।

यदि सारा संसार भ्रान्तिमूलक है तो उसमें अर्थ क्रियाकारित्व कैसे होता है ? मृगतृष्णा में स्नान से किसी को सन्तोष नहीं हो सकता, इस आशंका पर कहते हैं कि—

"रज्ज्वां नास्ति भुजङ्गः, सर्प भयं भवति हेतुना केन ।
तद्वद् द्वैत विकल्प भ्रान्तिरविद्या न सत्यमिदम्" ॥२८॥

सर्पभ्रान्ति का अधिष्ठान रज्जु में सर्प नहीं है, क्योंकि (यह सर्प नहीं है, रस्सी है) इस उत्तर ज्ञान से सर्प का बाध होता है। फिर भी मिथ्यासर्प ज्ञान से भय, कम्पादि होता है अतः मिथ्या वस्तु में भी अर्थ क्रियाकारित्व होता है। मृगतृष्णा में उदक भ्रान्ति से भी पहले मन में आह्लाद होता है। इसी तरह द्वैत विकल्प भ्रान्ति अविद्या ही है तथापि उसमें अर्थ क्रियाकारित्व है; फिर भी वह सत्य नहीं है।

यह अविद्या क्या है ? तथा उसका अधिष्ठान क्या है ? इसपर कहते हैं—

"एतत्तदन्धकारं, यदनात्मन्यात्मता भ्रान्त्या ।
न विदन्ति वासुदेवं, सर्वात्मानं नरा मूढाः" ॥२९॥

भ्रान्ति से अनात्मा देहादि में जो आत्मता ज्ञान है वही अविद्या है। उसी से आत्मतत्व जिज्ञासा शून्य पुरुष समस्त चराचर जगत् के अन्तरात्मा भगवान् वासुदेव को नहीं जानते।

फिर क्या अज्ञानमोहित पुरुष वासुदेव से अन्य हैं ? इस पर कहते हैं—

"प्राणाद्यनन्त भेदै रात्मानं संवितत्य जालमिव ।
संहरति वासुदेवः स्वविभूत्या क्रीडमान इव" ॥३०॥

भगवान् वासुदेव चिदेकरस ब्रह्म हैं, वे विहार की इच्छा से अन्तर्यामी ब्रह्मादि स्थावरान्त समष्टि व्यष्टि भेदों से, अपनी लीला शक्ति से अपने आप को जाल के समान फैलाकर पुनः अविद्या का विधूनन करके सबका संहार करते हैं।

"त्रिभिरेव विश्वतैजस, प्राज्ञैस्तैरादिमध्य निधनाख्यैः ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तै र्भ्रमभूतैश्छादितं तुर्यम्" ॥३१॥

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्त इन तीन अवस्थाओं का सहारा लेकर विश्व, तैजस, प्राज्ञ इन तीन नामों द्वारा सृष्टि, स्थिति, संहार का उद्भावन कर भगवान् संहार करते हैं और भ्रमरूप इन सबके द्वारा तुर्य (चतुर्थ) भगवान् का स्वरूप आच्छादित है।

"मोहयतीवात्मानं, स्वमायया द्वैतरूपया देवः ।
उपलभते स्वयमेवं, गुहागतं पुरुषमात्मानम्" ॥३२॥

इस प्रकार स्वप्रकाश भगवान् द्वैतरूप अपनी माया से स्वयं अपने आपको मोहित सा करते हैं और स्वयं ही गुहागत (माया में छिपे हुए) परमात्म स्वरूप पुरुष को प्राप्त करते हैं।

भगवान् वासुदेव अपनी माया से विश्व की रचना करते हैं। परन्तु कहाँ, किस आधार पर सृष्टि करते और देखते हैं यह प्रश्न रह जाता है। इसी का उत्तर देते हुए भगवान् शेष कहते हैं—

"ज्वलनाद्धूमोद्गतिभि, र्विविधाकृतिरम्बरे यथाभाति।
तद्वद्विष्णौ सृष्टिः, स्वमायया द्वैतविस्तराभाति" ॥३३॥

जैसे अग्नि से धूमोद्गमों के द्वारा आकाश में सफेद, काली, पीली विविध प्रकार की आकृतियां प्रतीत होती हैं उसी प्रकार व्यापनशील विष्णुरूप परब्रह्म में ही द्वैतविस्तार रूप सृष्टि प्रतीत होती है। जैसे धूमनिर्मित आकृतियों का आश्रय होनेपर भी आकाश उनसे असंस्पृष्ट रहता है वैसे ही विष्णु विश्वप्रपञ्च का आश्रय होनेपर भी उससे असंस्पृष्ट ही रहता है। अन्य लोगों की दृष्टि में आकाश में जलरेखा एवं शिला में अंकुर के तुल्य केवल प्रतीति ही होती है विश्वकी उत्पत्ति नहीं होती।

कहा जाता है कि जाग्रदादि प्रपञ्च का द्रष्टा आत्मा परमेश्वर है यह कहना सङ्गत नहीं है क्योंकि जाग्रदादि प्रपञ्च का द्रष्टा आत्मा सात्विक, राजस, तामस आदि भेद से भिन्न होगा परन्तु परमेश्वर मायातीत होने से सत्त्वादि भेदशून्य नहीं होगा। इसी प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् शेष कहते हैं—

"शान्त इव मनसि शान्ते, हृष्टे हृष्ट इव मूढ इव मूढे।
व्यवहारस्थो न पुनः, परमार्थत ईश्वरो भवति" ॥३४॥

व्यवहार में स्थित जीवभाव को प्राप्त हुआ ईश्वर मन के शान्त (सात्विक) होनेपर शान्त सा, हृष्ट (राजस) होनेपर हृष्ट सा एवं मूढ़ (तामस) होने पर मूढ़ सा प्रतीत होता है। परमार्थतः गुण सभी दृश्य हैं, दृक्स्वरूप आत्मा से उनका सम्बन्ध नहीं हो सकता।

फिर भी कहा जाता है कि आत्मा सुख, दुःख, मोहों का अनुभव करता है अतः गुणों का सम्बन्ध होना अनिवार्य है। परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि—

"जलधर धूमोद्गतिभिर्मलिनीक्रियते यथा न गगनतलम्।
तद्वत्प्रकृतिविकारैरपरामृष्टः परः पुरुषः" ॥३५॥

जैसे बादलों एवं धूमों के उद्भूत होनेपर भी गगनतल उनसे मलिन नहीं होता क्योंकि आकाश असङ्ग स्वभाव का होता है, उसी तरह सुख, दुःख, मोह-रूप प्रकृति विकारों के प्रतीयमान होनेपर भी पुरुष जीव उनसे अपरामृष्ट असंसृष्ट ही रहता है क्योंकि वह वस्तुतः निरञ्जन सर्वोपाधि सम्बन्धशून्य परमात्म स्वरूप ही है।

कुछ लोग यह भी शङ्का करते हैं कि यदि सभी क्षेत्रों में एक ही क्षेत्रज्ञ है तो एक के अज्ञ होनेपर सबको अज्ञ एवं एक के दुःखी होने पर सबको दुखी होना चाहिये। यदि सभी क्षेत्रों में एक ही क्षेत्रज्ञ है तो एक के अज्ञ होनेपर सभी अज्ञ और एक के दुःखी होनेपर सभी दुःखी होने चाहिये, इस आशङ्का पर कहते हैं—

"एकस्मिन्नपि च घटे, धूमादि मलावृते शेषाः।
न भवन्ति मलोपेता, यद्वज्जीवोऽपि तद्वदिह" ॥३६॥

जैसे एक घटाकाश के धूमादि मलों से आवृत होनेपर भी शेष घटाकाश मलादि से आवृत नहीं होते वैसे ही एक जीव के अज्ञानादि से आवृत होनेपर भी शेष जीव अज्ञानादि से आवृत नहीं होते।

इस तरह जीवगत धर्माधर्म व्यावहारिक ही हैं, पारमार्थिक नहीं। परमार्थतः परमात्मस्वरूप ही जीव है यह कहा गया। गुण पुरुष विभाग जाननेवाले तत्त्व-विद् में धर्माधर्म किस प्रकार बन्धक नहीं होते हैं, इस प्रश्न का समाधान अगली दश आर्याओं द्वारा किया जाता है।

"देहेन्द्रियेषु नियताः कर्मगुणाः कुर्वते स्वभोगार्थम्।
नाहं कर्ता न ममेति, जानतः कर्म नैव बध्नाति" ॥३७॥

देह एवं इन्द्रियों में व्याप्त गुण (कार्यकरण सङ्घातरूप में परिणता त्रिगुणात्मिका प्रकृति) स्वभोगार्थ कर्म करते हैं। चल गुणों से विलक्षण असङ्ग कूटस्थ स्वभाव होने से मैं कर्ता नहीं हूँ और न कर्मफल मेरा भोग्य है, इस प्रकार जो आत्मा को जानता है उसे कर्म नहीं बाँधते। जो आत्मा की कार्यकरण सङ्घात रूपा जड़ प्रकृति है वही आत्मा के अनुप्रवेश या आत्म-चैतन्य छायापत्ति से स्वतन्त्र सी बनकर ऐहिक, आमुष्मिक विविध फलों की कामना से शुभाशुभ कर्म करती और वही इहलोक, परलोक में फल भी भोगती है। आत्मा में उसी प्रकृति के साथ तादात्म्याध्यास होने से कर्तृत्व, भोक्तृत्व की प्रतीति होती है। अतएव **'ध्यायतीव लेलायतीव'** यह श्रुति कहती है कि बुद्धि

के ध्यान करने पर आत्मा ध्यान करता हुआ सा, बुद्धि के विलास करने पर आत्मा विलास करता हुआ सा प्रतीत होता है, वस्तुतः आत्मा अकर्ता एवं अभोक्ता ही है।

कहा जाता है कि यदि देहसम्बन्ध कर्मनिमित्तक है तो अन्योन्याश्रय दोष होगा; क्योंकि देह के होने पर ही कर्म हो सकता है और कर्म होने पर ही देह हो सकता है, परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि—

"अन्य शरीरेण कृतं, कर्म भवेद्येन देह उत्पन्नः।
तदवश्यं भोक्तव्यं, भोगादेवक्षयोऽस्य निर्दिष्टः" ॥३८॥

जिस कर्म से देह उत्पन्न होता है वह कर्म अपने से प्राचीन अन्य शरीर से उत्पन्न होता है। उस देह का आरम्भक कर्म उससे प्राचीन देह द्वारा उत्पन्न होता है। अतः अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। जैसे पूर्व पूर्व बीज से उत्तरोत्तर अंकुरों की उत्पत्ति होती है वैसे ही पूर्व पूर्व देहों से उत्तरोत्तर कर्मों की उत्पत्ति होती है। संसार बीजाङ्कुर प्रवाह के तुल्य अनादि ही है अतः अनवस्था दोष भी नहीं है। कर्मों का भोग से ही क्षय होता है इत्यादि शास्त्रों के आधार पर यही विदित होता है कि प्राचीन देहकृत कर्मों का फल उत्तरोत्तर देहों से भोगा जाता है। जिस कर्म से जो देह उत्पन्न होता है उस देह द्वारा उस कर्म का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है ऐसा शास्त्रों का निर्देश है।

'नाभुक्तंक्षीयते कर्म कल्प कोटिशतैरपि'।

'अवश्यमेवभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'।

कहा जा सकता है कि फिर तो तत्वज्ञों को भी कर्मफल भोग अनिवार्य होगा? परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि—

'प्राग्ज्ञानोत्पत्ति चितं, यत्कर्मज्ञान शिखिशिखालीढम्।
बीजमिवदहनदग्धं, जन्म समर्थ न तद्भवति" ॥३९॥

अर्थात् ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व सञ्चित कर्म ज्ञानरूपी अग्नि की शिखा से जल जाता है। ज्ञान के द्वारा मूलाज्ञान का नाश होने से तन्मूलक कर्म निर्वीर्य होकर दग्ध बीज के तुल्य पुनर्जन्म रूप अंकुर पैदा नहीं कर सकता अतएव। भगवान् कहते हैं कि—**'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणिभस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।'** अर्थात्, ज्ञानरूप अग्नि प्रारब्धभिन्न सभी सञ्चित् कर्मों को भस्म कर देता है।

फिर भी कहा जा सकता है कि ज्ञानोत्तर देहपातपर्यन्त क्रियमाण कर्मों से तत्त्वज्ञ का जन्मान्तर हो सकता है; परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि—

"ज्ञानोत्पत्तेरूर्ध्वं क्रियमाणं कर्म यत्तदपि नाम।
न श्लिष्यति कर्तारं, पुष्करपत्रं यथा वारि" ॥४०॥

अर्थात् ज्ञानोत्पत्ति से ऊर्ध्व क्रियमाण कर्म विद्वान् कर्ता को वैसे ही नहीं स्पर्श करता जैसे पुष्करपत्र को जल स्पर्श नहीं करता। श्रुति की भी यही सम्मति है कि जैसे कमलपत्र में जल का श्लेष नहीं होता वैसे ही विद्वान् में शुभाशुभ कर्मों का लेप नहीं होता।

ऐसा क्यों होता है, इसी का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् शेष कहते हैं कि—

"वाग्देहमानसैरिह, कर्मचयः क्रियत इति बुधाः प्राहुः।
एकोऽपि नाहमेषां, कर्ता तत्कर्मणामस्मि" ॥४१॥
"कर्मफलबीज नाशाज्जन्म विनाशो न चात्र सन्देहः।
बुद्ध्वैवमपगततमाः, सवितेवाभाति भारूपः" ॥४२॥

व्यवहार में वाणी, देह एवं मन से ही कर्मों का सञ्चय किया जाता है ऐसा विद्वान् कहते हैं। विद्वान् समझता है कि मैं वाणी, देह, मन इनमें से एक भी नहीं हूँ। अतः कर्मों का कर्ता भी नहीं हूँ। कर्मफल का बीज कर्तृत्व ही है। जब विद्वान् में कर्तृत्व ही नहीं है तब फिर कर्मफलभूत जन्म कैसे हो सकता है? असङ्ग, अनन्त, निर्विकार, कूटस्थ ज्ञानरूप आत्मा में अज्ञान एवं तज्जनित भ्रान्ति से ही कर्तृत्व बन सकता है। ज्ञान होने पर कर्तृत्व एवं तत्फल जन्म का अभाव होना स्वाभाविक ही है। अतएव ऐसा समझकर मोहरहित होकर सविता के तुल्य नित्योदित अनस्तमित प्रकाशस्वरूप होकर सर्वोपरि विराजमान होता है।

ज्ञानोदय समकाल में कर्मों का नाश होता है या कालान्तर में; इस शङ्का का समाधान करते हुए भगवान् शेष कहते हैं कि—

"यद्वदिषीका तूलं, पवनोद्धूतं हि दशदिशो याति।
ब्रह्मणि तत्त्वज्ञानात्, तथैव कर्माणि तत्त्वविदः" ॥४३॥

जैसे काशपुष्प या मुंजपुष्प पवन से उद्धूत होकर दशो दिशाओं में इतस्ततः प्रलीन हो जाते हैं वैसे ही विद्वान् के कर्म भी तत्त्वज्ञान से ही नष्ट हो जाते हैं।

यहाँ सन्देह होता है कि क्या तत्त्वज्ञान होते ही विद्वान् का शरीर तत्काल नष्ट हो जाता है या कालान्तर में ? यदि तत्त्वज्ञान होते ही तत्त्वज्ञ का देहपात हो जाय तो उपदेश के लिये कोई तत्त्वज्ञ गुरु ही नहीं रहेगा; फिर उपदेश कौन करेगा और ब्रह्मविद्या का सम्प्रदाय कैसे चलेगा ? अतः पहला पक्ष ठीक नहीं। दूसरा पक्ष भी इसलिये ठीक नहीं कि विद्वान् के देह रहने से उसमें देहाभिमान भी होगा, फिर उसमें अनर्थप्राप्ति भी सम्भव है। परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि प्रारब्धवशात् तत्त्वज्ञान के पश्चात् भी कुछ काल तक देह रहता है। प्रारब्धातिरिक्त सञ्चित कर्मों का ही तत्त्वज्ञान से भस्मीभाव होता है, देहारम्भ के प्रारब्ध का नहीं कारण, वह तत्त्वज्ञान का उपजीव्य (कारण) होता है। जैसे पिता से उत्पन्न पुत्र पिता का हनन नहीं करता वैसे ही प्रारब्धकर्म जनित देहादि की सहायता से ही सम्पन्न श्रवण मननादिपूर्वक तत्त्वज्ञान अपने कारण प्रारब्धकर्म का विनाशक नहीं हो सकता। जैसे चापमुक्त बाण या बन्दूक से निकली गोली वेगशान्ति से ही शान्त होते हैं वैसे ही प्रारब्धकर्मों का फलभोग से ही क्षय होता है, फिर भी ब्रह्मात्मबोध होने के कारण देह रहने पर भी तत्त्वज्ञ को पहले के समान भ्रान्ति नहीं होती।

"क्षीरादुद्धृतमाज्यं, क्षिप्रं यद्वन्न पूर्ववत्तस्मिन्।
प्रकृति गुणेभ्यस्तद्वत् पृथक्कृतश्चेतनोनात्मा" ॥४४॥

जैसे दुग्ध से निकला हुआ घृत पुनः क्षीर में डालने पर भी पूर्ववत् नहीं होता, वैसे ही प्रकृति एवं उसके गुणों देहादिकों से पृथक् आत्मा का श्रुति, युक्ति द्वारा विवेचन हो जाने पर जीवात्मा परमात्मा ही हो जाता है। फिर कर्मशेषवशात् प्रकृति गुणों में रहता हुआ भी वह पूर्ववत् भ्रान्ति को नहीं प्राप्त होता।

परमात्म भाव को प्राप्त होकर चेतन आत्मा कैसे रहता है इसका निरूपण करते हैं।

"गुणमयमायागहनं, निर्धूय यथा तमः सहस्रांशुः।
बाह्याभ्यन्तरचारी, सैन्धव घनवद्भवेत्पुरुषः" ॥४५॥

जैसे सहस्रांशु सूर्य अन्धकार का विनाशकर बाह्याभ्यन्तरचारी स्वप्रकाश रूप से विराजता है, वैसे ही विद्वान् पुरुष गुणमय कार्यकरण सङ्घातरूप माया-संज्ञक अन्धकार को तत्त्वज्ञान के प्रभाव से नष्टकर बाह्याभ्यन्तर सञ्चारी सैन्धव घन के तुल्य चिदेकरस होकर रहता है। देहादि के भीतर रहता हुआ भी

देहादि से अनवच्छिन्न होकर बाह्याभ्यन्तर एक अखण्ड चैतन्य रूप में ही रहता है। जैसे सैन्धव (लवण) घन में भीतर बाहर लवण ही लवण रहता है वैसे ही भीतर बाहर एक अखण्ड चिद्रूप आत्मा ही रहता है।

कहा जाता है कि यदि आत्मा माया और तत्कार्यों से भिन्न है तो माया आदि आत्मा से भिन्न हैं ही, फिर आत्मा की अद्वितीयता कहाँ रही ? परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि—

"यद्वद्देहोऽवयवा, मृदेव तस्या विकारजातानि।
तद्वत् स्थावरजङ्गममद्वैतं द्वैतवद्भाति" ॥४६॥

जैसे शिर, हाथ, पाँव आदि अवयव देह ही हैं, देह से पृथक् नहीं हैं तथापि देह उनसे अन्य है, तभी वह अवयवी कहा जाता है। जैसे मृत्तिका के विकार घटादि मृत्तिका ही हैं, उससे पृथक् नहीं हैं; फिर भी मृत्तिका उनसे पृथक् है तभी वह कारण है। उसी तरह स्थावर जङ्गम सम्पूर्ण जगत् में अद्वैत सदानन्द चिदेकरस ब्रह्म ही है; अद्वैत ब्रह्म ही द्वैतवत् प्रतीत होता है। ब्रह्म से भिन्न होकर द्वैत कुछ भी नहीं है। फिर ब्रह्म जगत् से अन्य ही है तभी वह सबका मूल कारण है। इस अद्वितीयता में कोई बाधा नहीं पड़ती।

पहले कहा है कि जैसे एक सूर्य विभिन्न जलाशयों में भासमान होता है वैसे ही एक परमात्मा नाना उपाधियों में अवस्थित प्रतीत होता है। उसी अंश का अनुवाद करते हुए अब जीव-ब्रह्म का ऐक्यरूप वाक्यार्थ कहा जाता है।

"एकस्मात् क्षेत्रज्ञात्, बह्वयः क्षेत्रज्ञजातयो जाताः।
लोहगतादिव दहनात्, समन्ततो विस्फुलिङ्गगणाः" ॥४७॥

जैसे लौह के साथ तादात्म्यापन्न अग्नि से चारो ओर अनेक चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही एक क्षेत्रज्ञ से सुर, नर, पशु, पक्षि, मत्स्य, कूर्म, सर्प, वृक्ष आदि भेद से बहुत क्षेत्रज्ञ जातियाँ उत्पन्न होती हैं। श्रुति ने भी कहा है कि जैसे अग्नि से विस्फुलिङ्ग निकलते हैं वैसे ही ब्रह्मात्मा से असंख्य आत्मा निकलते हैं—**'यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेव तस्मादात्मनः एत आत्मानो व्युच्चरन्ति।'**—(बृ० ३)

देव, मनुष्य, जलचर, खग, मृग, सरीसृप, वृक्ष; ये सात प्रकार की क्षेत्रज्ञ जातियाँ होती हैं। ९ लाख जलचर, २० लाख स्थावर, ११ लाख कृमि, १० लाख पक्षी, ३० लाख पशु और ४ लाख मनुष्य होते हैं।

"जलजा नवलक्षाणि स्थावरा लक्षविंशतिः।
कृमयो रुद्रलक्षाणि पक्षिणो दशलक्षकाः।
त्रिंशल्लक्षाणि पशवश्चतुर्लक्षाणि मानवाः॥"

सभी क्षेत्रों में स्थित क्षेत्रज्ञ मुख्य क्षेत्रज्ञ परमात्म स्वरूप ही हैं यही तत्त्वमस्यादि महावाक्यों का अर्थ है।

कहा जा सकता है कि फिर तो परमात्म स्वरूप क्षेत्रज्ञों का बन्ध और बन्ध-निवृत्तिरूप मोक्ष कैसे बन सकेगा ? परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि—

"ते गुणसङ्गमदोषात्, बद्धा इव धान्यजातयः स्वतुषैः।
जन्म लभन्ते तावद्, यावन्न ज्ञानबह्निना दग्धाः" ॥४८॥

अर्थात् क्षेत्रज्ञ (जीव) स्वतः मुक्त होते हुए भी गुण एवं तत्परिणामभूत क्षेत्रों के सङ्ग से वैसे ही बद्ध प्रतीत होते हैं जैसे जपाकुसुमादि उपाधि से स्फटिक में लौहित्य प्रतीत होता है। दोनों ही पारमार्थिक हैं। श्रुति भी कहती है कि विमुक्त आत्मा ही विमुक्त होता है—**'विमुक्तश्च विमुच्यते।'**

जैसे कोद्रव जाति का धान्य अपने से ही उद्भूत तुषों द्वारा बद्ध होता है वैसे ही क्षेत्रज्ञ भी स्वोद्भूत क्षेत्र के द्वारा बद्ध (स्वतः असंस्पृष्ट होनेपर भी बद्ध) होता है। तत्त्वविचार से ज्ञानाग्नि द्वारा जब तक अविद्या एवं तत्कार्य क्षेत्र का दाह नहीं होता तब तक जन्म प्राप्त होता रहता है। जैसे अग्नि द्वारा तुषदाह होनेपर धान्य अंकुरित नहीं होता वैसे ही ज्ञान से क्षेत्रबाध होने पर क्षेत्रज्ञ का भी पुनर्जन्म नहीं होता।

कहा जाता है कि ज्ञान अज्ञान का ही निवर्तक होता है, फिर बन्ध की निवृत्ति ज्ञान से कैसे होगी ! परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि बन्ध अज्ञानमय ही है।

"त्रिगुणा चैतन्यामनि, सर्वगतेऽवस्थिते खिलाधारे।
कुरुते सृष्टिमविद्या, सर्वत्र स्पृश्यते तया नात्मा" ॥४९॥

सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणोंवाली प्रकृतिरूपा अविद्या सर्वगत, सर्वाधार, कूटस्थ बोधरूप आत्मा में प्रपञ्चसृष्टि करती है। अविद्या तमःशक्ति से आत्मस्वरूप का आच्छादन करती है और सत्त्वशक्ति से उसका प्रकाशन करती है—**'सत्त्वं ज्ञानं रजः कर्म तमोऽज्ञानमिहोच्यते॥'**

सृष्टि का आधार देहादि अवच्छिन्न आत्मा नहीं किन्तु अनवच्छिन्न सर्वगत ज्ञानरूप आत्मा है। इसी तरह क्षणिक विज्ञान सन्तान सृष्टि का आधार नहीं किन्तु कूटस्थ नित्य ज्ञानरूप आत्मा सृष्टि का आधार है। इसी दृष्टि से 'सर्वगते', 'अवस्थिते' इत्यादि विशेषण हैं। अखिलाधार सर्वद्रष्टा ही सर्वक्षेत्र प्रपञ्च सृष्टि का आधार एवं भासक है।

"यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति..." ॥-(गी०)

जैसे सूर्य समस्त लोक का प्रकाशन करता है वैसे ही क्षेत्रज्ञ समस्त क्षेत्र का प्रकाशन करता है।

कहा जाता है कि प्रकाशस्वरूप आत्मा में अप्रकाशरूपा अविद्या कैसे रह सकती है?

"रज्ज्वां भुजङ्गहेतुः, प्रभवविनाशो यथा न स्तः।
जगदुत्पत्ति विनाशो, न च कारणमस्ति तद्वदिह" ॥५०॥

जैसे रज्जु में न तो सर्प का हेतु होता है और न तो सर्प का उत्पाद विनाश ही होता है, इसी तरह आत्मा में न जगत् का उत्पाद विनाश होता है न उसका हेतु ही होता है। जैसे रज्जु से भिन्न रज्जु में सर्प एवं सर्प का कारण न होने पर भी सर्प की प्रतीति भ्रान्ति से होती है, उसी तरह आत्मव्यतिरेकेण जगत् एवं जगत् का कारण आत्मा में न होने पर भी भ्रान्ति से आत्मा में जगत् की प्रतीति होती है। फलितार्थ यह है कि—

"जन्मविनाशनगमनागमन मलसम्बन्धवर्जितो नित्यम्।
आकाश इव घटादिषु, सर्वात्मा सर्वदोपेतः" ॥५१॥

सभी का आत्मा नित्य, जन्म विनाश, गमन-आगमन आदि मलसम्बन्ध-शून्य है, फिर भी घटादिकों में आकाश के तुल्य वह सब में सर्वदा व्यापक है।

कहा जाता है कि फिर तो बन्धमोक्ष के लिए प्रयास व्यर्थ ही होगा, परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि—

"कर्म शुभाशुभफल सुख, दुःखैर्योगो भवत्युपाधीनाम्।
तत्संसर्गाद् बन्धस्तस्कर सङ्गादतस्करवत्" ॥५२॥

देह, वाणी, मन आदि उपाधियों का कर्म एवं शुभाशुभ फलरूप सुखदुःखादि से सम्बन्ध है। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि अविद्या कोई पारमार्थिक वस्तु नहीं

है। वह अविचारितरमणीय अपारमार्थिक वस्तु है। अतएव उससे आत्मा का स्पर्श नहीं होता। जैसे सूर्य में प्रकाशमान भी राहु सूर्य का स्पर्श नहीं करता उसी तरह अविद्या आत्मा में भासमान होने पर भी आत्मा का स्पर्श नहीं करती। इसी लिये वार्तिककार ने कहा है कि—

"अविद्यास्तीत्यविद्यायामेवासित्वा प्रकल्प्यते।
ब्रह्मद्वारात्वविद्येयं न कथञ्चन युज्यते॥"

अर्थात् अविद्या में बैठकर ही अविद्या के अस्तित्व की कल्पना की जा सकती है, ब्रह्म की दृष्टि में वह कथमपि उपपन्न नहीं होती। उलूकानुभवसिद्ध अन्धकार का आश्रय जैसे सूर्य होता है वैसे ही अज्ञानानुभवसिद्ध अविद्या ब्रह्म में रहती है अथवा अध्यासरूप अविद्या का आश्रय ब्रह्म होता है। अध्यास-कारण संस्कार रूप अविद्या का भी आश्रय वही हो सकता है।

कहा जाता है कि यदि अविद्या से आत्मा का स्पर्श नहीं होता तो अविद्या एवं तत्कार्यभूत प्रपञ्च की प्रतीति कैसे होगी ? इसका समाधान करते हुए भगवान् शेष कहते हैं—उन उपाधियों का आत्मा के साथ तादात्माध्यासरूप सम्बन्ध होता है। उसी से आत्मा में बन्ध वैसे ही होता है जैसे तस्कर (चोर) के संसर्ग से अतस्कर (भले पुरुष) को भी बन्धभागी होना पड़ता है।

"देह गुण करण गोचर सङ्गात्पुरुषस्य यावदिवभावः।
तावत्मायापाशैः संसारे बद्ध इव भाति"।५३॥

देह (देहरूप में परिणत अव्यक्त, महान्, अहङ्कार एवं भूत), गुण (बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, प्रयत्न आदि), करण (इन्द्रियाँ), गोचर (शब्दादि विषय) इन उपाधियों के संग से जब तक पुरुष को उनमें आत्मत्वा-भिमान है तब तक मायापाशों से संसार में गर्भवासादि दुःखों से वह बद्ध होता है। यही सब क्षेत्र है—

"महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्चेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥"

महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि (महत्तत्त्व), पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, मन

एवं पञ्च शब्दादि विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना, धृति यही क्षेत्र हैं। इन्हीं के संग से बन्ध होता है।

"मातृ पितृ पुत्र बान्धव, धन भोग विभाग सम्मूढ़ः।
जन्म जरा मरणमये, चक्र इव भ्राम्यते जन्तुः" ॥५४॥

माता, पिता, पुत्र, बान्धव, धन एवं चन्दन वनितादि भोगों के विभागों में 'यह मेरी माता है, यह पिता है, यह पुत्र है, ये मेरे बान्धव हैं, यह मेरा धन है, ये मेरे भोग हैं', इस तरह मूढ़ होकर, भ्रान्त होकर जन्तु जन्ममरणमय संसार-चक्र में वैसे ही भ्रमण करता है जैसे कुलालचक्र में स्थित पिपीलाकादि भ्रमण करते हैं।

क्यों भ्रमण करते हैं ? इसका उत्तर निम्नोक्त है—

"लोक व्यवहारकृतां, य इहाविद्यामुपासते मूढ़ाः।
ते जनन मरण धर्माणोऽन्धं तम एत्य खिद्यन्ते" ॥ ५५ ॥

'लोक्यत इति लोकः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार लोक शब्द का अर्थ है कार्यकरण संघात। उसमें आत्मत्वाभिमान ही व्यवहार है। इस तरह कार्य-करण संघात में होनेवाले आत्मत्वाभिमान से जनित अविद्या की जो उपासना करते हैं, वे लोग पुनः अन्धंतम अविद्यामय देहान्तर को प्राप्तकर जनन मरण धर्मों के आश्रय होकर खिन्न होते हैं।

यह अप्रकाशात्मिका माया प्रकाशस्वरूप भगवान् में कैसे हो सकती है, इसका उत्तर यही है कि वह माया भगवान् का स्वभाव ही है।

"हिमफेन बुद्बुदा इव, जलस्य धूमो यथा वह्नेः।
तद्वत्स्वभावभूता, मायैषा कीर्तिता विष्णोः" ॥ ५६ ॥

यह संसार की हेतुभूत माया सर्वात्मस्वरूप विष्णु का स्वभावभूत है, अतः निसर्गसिद्ध है—**'देवस्यैव स्वभावोऽयमात्मकामस्य का स्पृहा।'**

जैसे हिम (बर्फ) फेन बुद्बुद जल का एवं धूम वह्नि का स्वभाव होता है वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। जैसे निर्मल द्रवात्मक जल से कठिन श्वेतवर्ण हिमादि और प्रकाशात्मक बह्नि से अप्रकाशरूप धूम उत्पन्न होता है उसी तरह प्रकाशस्वरूप परमेश्वर से अप्रकाशरूपिणी माया उदित होती है। निवर्त्य तम के बिना प्रकाश की प्रकाशता भी सिद्ध नहीं होती।

अथवा स्वमाया शक्ति का अवलम्बनकर परमेश्वर महदादि क्रम से ब्रह्माण्ड की सृष्टि करता है। उसके भीतर चतुर्दश भुवन की सृष्टि करता है। उनमें चराचर शरीरों का निर्माण करता है। परमेश्वर ही उन सबमें अन्तर्यामिरूप और जीवरूप से प्रविष्ट होकर विश्व का नियमन करता है और अपने नियम का अनतिक्रमण करते हुए सुखदुःख का अनुभव किस उद्देश्य से करता है, इस पर भगवान् शेष कहते हैं कि जैसे स्वभाव से ही जल का हिमफेनादि रूप से परिणाम होता है, जैसे वह्नि से धूम का प्रादुर्भाव होता है वैसे ही परमेश्वर से कार्यकारणात्मिका माया स्वभाव से ही प्रादुर्भूत होती है; वहाँ कोई प्रयोजन (उद्देश्य) नहीं है क्योंकि परमेश्वर आप्तकाम है। यहाँ माया शब्द से मायामयी विश्वसृष्टिरूप परमेश्वर की प्रवृत्ति कही गयी है। जैसे अग्नि में दाहिका शक्ति अग्नि से विलक्षण होती है, बीज में अंकुरोत्पादिनी शक्ति बीज से विलक्षण होती है उसी तरह ब्रह्म में होनेवाली अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोत्पादिनी शक्ति ही माया है। यही अचिच्छक्ति अविद्या अज्ञान आदि शब्दों से भी कही जाती है। वह सद्विलक्षण होने से ही मिथ्या कही जाती है। भ्रान्ति या अध्यास को मिथ्याज्ञान एवं अविद्या कहा जाता है।

उस शक्ति को ही मूल प्रकृति भी कह लिया जाता है। यह माया ईश्वर का स्वभाव होने पर भी अग्नि की उष्णता के तुल्य वस्तु स्वभाव नहीं है। किंतु सद्विलक्षण होने से बाध्य एवं अनिवर्चनीय है। अतएव अधिष्ठान ज्ञान से बाधित हो जाना भी उसका स्वभाव है। बुद्बुदादि जल के स्वभाव होने पर भी जैसे बाधित होते हैं, जल ही उनकी अपेक्षा अबाधित एवं सत्य होता है; उसी तरह सभी प्रपञ्च ब्रह्म का स्वभाव होने पर भी बाध्य होता है। सब की अपेक्षा ब्रह्म ही अत्यन्ताबाध्यरूप परम सत्य है।

इस प्रकार बन्ध आविद्यक होने से विद्या के द्वारा बाधित होता है। विद्या प्राप्ति का उपाय, विद्या का स्वरूप, तत्फलभूत जीवन्मुक्ति का स्वरूप, निम्नोक्त आर्याओं से कहा जाता है—

"एवं द्वैतविकल्पां, भ्रमस्वरूपां विमोहिनीं मायाम्।
उत्सृज्य सकल निष्कल मद्वैतं भावयेद् ब्रह्म" ॥ ५७ ॥

इस प्रकार द्वैत की विकल्पना करनेवाली सर्वविमोहिनी भ्रमरूपा देहादि में आत्मबुद्धि को त्यागकर सकल ब्रह्म को निष्कल ब्रह्मरूप से ध्यान करना चाहिये। सकलरूप होने पर भी अर्थात् नामरूपात्मक प्रपञ्चरूप से भास-

मान होने पर भी वस्तुतः सच्चिदानन्द रूप से ही अवस्थित होने के कारण निष्कल ही है। जैसे अविद्या के द्वारा रज्जु सर्प, धारा, माला आदि रूप में भान होने पर भी वस्तुतः रज्जु ही रहती है, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। भ्रमरूप माया के द्वारा ही अद्वैत में द्वैत की कल्पना होती है और उसी में संसारभयरूप मोह उत्पन्न होता है। देहादि अनात्मा में होनेवाली आत्मबुद्धिरूप माया का त्याग करके सप्रपञ्च रूप से प्रतीत होनेवाले ब्रह्म में भी निष्प्रपञ्च अद्वैत ब्रह्म की ही भावना करनी चाहिये। उसका फल निम्नोक्त है—

"यद्वत् सलिले सलिलं, क्षीरे क्षीरं समीरणे वायुः।
तद्वद् ब्रह्मणि विमले, भावनया तन्मयत्वमुपयाति" ॥ ५८ ॥

जैसे महान् सरोवर जल में निःक्षित कलशादि जल जल हो जल हो जाता है; प्रभूत क्षीर में निःक्षित अल्प क्षीर जैसे तन्मय हो जाता है; जैसे वाह्य वायु में निक्षित व्यजनादि संभूत वायु तन्मय हो जाता है; तद्वत् निष्प्रपञ्च ब्रह्म में आत्मबुद्धि से उपासना करने पर पुमान् ब्रह्ममय हो जाता है।

"इत्थं द्वैत समूहे, भावनया ब्रह्मभूयमुपयाते।
को मोहः कः शोकः, सर्वं ब्रह्मावलोकयतः" ॥ ५९ ॥

इस तरह ब्रह्मभावना के द्वारा द्वैत प्रपञ्च अद्वैत ब्रह्ममय हो जाता है अर्थात् द्वैतभ्रमप्रवाह नष्ट हो जाता है। सब कुछ ब्रह्म ही है, ब्रह्म से अन्य कुछ नहीं है, ऐसे ज्ञानवाले ब्रह्मज्ञानी के लिये कैसा मोह कैसा शोक? अर्थात् शोकमोहोपलक्षित संसार की ही निवृत्ति हो जाती है। श्रुति भी ब्रह्मात्मैकत्वदर्शी के लिये शोकमोहात्मक संसार की निवृत्ति कहती है।

कहा जाता है आत्मा की अभिव्यक्ति के मूल बुद्धि आदि उपाधियों का विलयन हो जाने पर फिर आत्मा का भी प्रकाश कैसे होगा? परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि—

"विगतोपाधिः स्फटिकः, स्वप्रभया भाति निर्मलो यद्वत्।
चिद्दीपः स्वप्रभया तथा विभातीह निरुपाधिः" ॥ ६० ॥

जैसे जवाकुसुमादि उपाधियों से रहित होकर निर्मल स्फटिक सित भास्वर-रूप अपनी प्रभा से ही भासमान होता है, उसी तरह निरुपाधिक चिन्मय दीप

स्वरूपभूत संविद् से ही प्रकाशमान होता है। जैसे उपाधि के बिना भी स्फटिक मणि भासमान होती है, वैसे ही बुद्धि आदि उपाधि के बिना भी स्वप्रकाश होने से आत्मा भासमान होता है। आत्मा सर्वविज्ञाता सर्वभासक है। सूर्यादि ज्योतियों का भी प्रकाश उसके ही अनुग्रह से होता है। यह श्रुति कहती है। यह भी उपाधिवशात् आत्मा का भान मानकर कहा गया है। वस्तुतस्तु कभी भी आत्मा का अन्य से भान नहीं होता है। अपितु उसका सदा ही स्वतः भान होता है। आत्मा निरञ्जन एवं असङ्ग है अतः उसका किसी से सम्बन्ध नहीं होता है। आत्मा व्यापक एवं असङ्ग है अतः वह एकत्र अवस्थित नहीं होने से चिदेकरस है।

**"गुणगण करण शरीरप्राणैस्तन्मात्र जाति सुखदुःखैः।
अपरामृष्टो व्यापी चिद्रूपाऽयं सदा विमलः" ॥ ६१ ॥**

यह आत्मा सदा सत्वादि गुणों, इन्द्रियादि करणों, शरीर तथा प्राणापानादि प्राणों तथा तन्मात्राओं (शब्दादि विषयों), मनुष्यत्वादि जातियों एवं शुभाशुभ कर्म फलरूप सुख दुःखों से अपरामृष्ट (असंस्पृष्ट) एवं व्यापी ही रहता है। अतएव वह सदा ही विमल चिद्रूप ही रहता है। आकाश मनोगम्य होने से चिद्रूप नहीं है।

देह सम्बन्ध न होने से आत्मा में दर्शनादि क्रिया का कर्तृत्व नहीं बन सकता है।

**"द्रष्टा श्रोता घ्राता स्पर्शयिता रसयिता ग्रहीता च।
देही देहेन्द्रियादिधी विवर्जितः स्यान्न कर्तासौ" ॥ ६२ ॥**

यह आत्मा देह सम्बन्ध को प्राप्त होकर श्रवण, घ्राण, रसना आदि इन्द्रियों तथा मन आदि उपाधिके संसर्ग से द्रष्टा, श्रोता, घ्राता, स्पर्शयिता आदि होता है। अतः देहेन्द्रियादि सम्बन्धरहित होकर कर्ता नहीं होता। अतः दर्शनादि क्रिया का कर्तारूप द्रष्टा भी नहीं होता। अतः श्रुति कहती है वह पाणिपादविहीन होने पर भी वेगवान् एव ग्रहीता है। चक्षु एवं श्रोत्र से रहित होने पर भी द्रष्टा एवं श्रोता होता है। यह दर्शनादि अखण्ड संविद् रूप ही है। कर्तृत्वसाध्य क्रियारूप नहीं है। माया को त्यागकर ब्रह्म की भावना किस तरह करनी चाहिये यह कहा जा रहा है—

**"एको नैकत्रावस्थितोऽहमैश्वर्य योगतो व्याप्तः।
आकाशवदखिलमिदं, न कश्चिदप्यत्र सन्देहः" ॥६३॥**

"आत्मैवेदं सर्वं, निष्कल सकलं यदैव भावयति।
मोह गहनाद्वियुक्तस् तदैव परमेश्वरीभूतः" ॥६४॥

यह सब कुछ आत्मा ही है। आत्मा की सत्ता एवं स्फूर्ति से भिन्न दृश्य की सत्ता स्फूर्ति नहीं है। जो कुछ भी दृश्य है वह दर्शनमात्र ही है। दर्शन द्रष्टा से भिन्न नहीं है। इसलिये बोधरूप द्रष्टा ही सब कुछ है—

"यदिदं दृश्यते किञ्चिद्दर्शनात्तन्न भिद्यते।
दर्शनं द्रष्टृतो नान्यद्, द्रष्टैव हि ततो जगत्" ॥

अतः सर्वात्मत्वरूप ऐश्वर्य के योग से मैं एक अद्वितीय, परम स्वतन्त्र आत्मा किसी एक देश, काल में अवस्थित नहीं हूँ, किन्तु अखिल द्वैतप्रपञ्च को व्याप्त होकर आकाशवत् सर्वदेश काल में अवस्थित हूँ।

यद्यपि आकाश वायुरूप नहीं होता अतः उसमें परिच्छेद होता है। तथापि व्यवहार दशा में कालपरिच्छेद एवं देशपरिच्छेद आकाश में नहीं होता है। इतने ही अंश में आकाश का दृष्टान्त ग्राह्य है। उपमान उपमेय का सर्वथा सादृश्य संभव नहीं होता। निष्प्रपञ्च होने पर भी ब्रह्म ही सप्रपञ्च रूप में प्रतीत होता है। जिस समय साधक उस ब्रह्म की स्वात्मरूप से उपासना करता है उसी समय मोहगहन अविद्याबन्ध से विमुक्त होकर परमेश्वर स्वरूप हो जाता है। ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही होता है इसमें कोई सन्देह नहीं है। ब्रह्मोपासन साक्षात्बोध का जनक होता है फिर जन्मान्तर की अपेक्षा नहीं होती है।

कुछ लोग कहते हैं सब कुछ आत्मा ही है। यह कहना असंगत है। कारण इस सम्बन्ध में वादियों की बहुधा विप्रतिपत्तियाँ हैं। कुछ लोग पृथिव्यादि भूतचतुष्टय के कार्य चैतन्याश्रित शरीर को ही आत्मा मानते हैं। अतः आत्मा भी कार्य ही है। कार्य दूसरे कार्यों में एवं कारण में अनुगत नहीं है फिर उसे सर्वात्मा नहीं कहा जा सकता। कुछ लोग प्राण को ही आत्मा कहते हैं। इसी तरह इन्द्रियाँ भी आत्मा हैं। इन पक्षों में भी अननुगति के कारण सर्वात्मता संभव नहीं है। कोई अणु परिमाण आत्मा मानते हैं, कोई मध्यम परिमाण मानते हैं, कोई क्षणिक विज्ञान को ही आत्मा कहते हैं। विज्ञान भी परस्पर अव्याप्त होने से उसमें भी सर्वात्मता संभव नहीं है। कुछ लोग शून्य ही आत्मा है यह कहते हैं। इस पक्ष में व्यापक आत्मा, व्याप्य विश्व, व्यापन क्रिया आदि कुछ भी नहीं होता है। कुछ लोगों के अनुसार पृथिव्यादि के तुल्य

ज्ञानगुणक आत्मा नित्य एवं व्यापक है। वह प्रति शरीर भिन्न है एवं परमेश्वर से भी भिन्न है। वह अहम्प्रत्ययगम्य जड द्रव्य विशेष है। इस पक्ष में भी आत्माओं में परस्पर व्याप्ति न होने से सर्वात्मता संभव नहीं है। इसी तरह परमेश्वरप्रेरिता प्रकृति या परमाणु जगत् के कारण हैं, इस मत में निमित्तभूत कुविन्द कुलालादि की परस्पर में अव्याप्ति स्पष्ट ही है।

कुछ लोग विश्व को परमेश्वर का परिणाम कहते हैं। इस मत में ब्रह्म की सर्वात्मता संभव भी है, तो भी, जीव ब्रह्म का अंश है और भिन्न है अतः सर्वात्मता संभव नहीं है। जो औपनिषद् भी विश्व को ब्रह्माधिष्ठित माया का विवर्त मानते हैं उनके मत में भी प्रकृति की सर्वात्मता बन सकती है। पुरुष में वह नहीं संभव है क्योंकि कारण ही कार्य में अनुगत होता है। वस्तुतस्तु प्रकृति भी सर्वात्मा नहीं हो सकती है क्योंकि पुरुष तत्स्वरूप नहीं है, तस्मात् आत्मा ही सब कुछ है यह कहना संगत नहीं। परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि स्व मायाशक्ति में अनुप्रविष्ट ब्रह्मात्मा ही भोक्ता, भोग्य एवं भोगमय प्रपञ्च रूप से विवर्तित होता है। यह **'रस फाणित शर्करिका'**, इत्यादि पद्य से कहा गया है। **'जन्माद्यस्य यत'** ब्रह्मसूत्र से भी जगत्कारण होना ब्रह्म का लक्षण कहा गया है। **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'** इत्यादि श्रुति से भी ब्रह्म को ही जगत् कारण कहा गया है। **'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते'** गीता में भी यही कहा गया है।

जैसे क्षणिक याग में स्वर्गसाधनता श्रुत है परन्तु कालान्तर में देहान्तरोपभोग्य फलसाधनता उसमें उपपन्न नहीं होती। अतः मध्य में अपूर्व की कल्पना की जाती है; वैसे ही चिदेकरसरूप कूटस्थ ब्रह्म का अनन्त चेत्यचेतनात्मक प्रपञ्चरूप में अवस्थान स्वतः नहीं बन सकता। अतः मध्य में माया को निमित्त माना जाता है। उपादानत्व अधिष्ठानभूत ब्रह्म में ही रहता है। जैसे अपूर्व द्वारा याग स्वर्गादि का जनक होता है वैसे ही माया द्वारा ब्रह्म जगत् का उपादान होता है। विमत प्रपञ्च का चेतन ही उपादान है क्योंकि वह कार्य है। स्वप्न प्रपञ्च इसमें दृष्टान्त है। यद्यपि घट, पटादि में कार्यत्व होने पर भी उसका चेतन उपादान नहीं है अतः हेतु व्यभिचारी कहा जा सकता है। परन्तु यह कथन निःसार है, क्योंकि घट, पटादि तो पक्षान्तर्गत ही है। इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि यदि प्रपञ्च चेतन का कार्य न हो तब तो उसमें कार्यत्व का निर्वाह ही नहीं हो सकता है। अचेतनप्रधान परमाणु आदि स्वयं अपने आप को भी नहीं जान सकते हैं। फिर उनके द्वारा

जगदुत्पादन कैसे हो सकता है ? अतः आत्मा ही जगत् का कारण है और वही सर्वात्मा है।

"यद्यत्सिद्धान्तागमतर्केषु प्रब्रुवन्ति रागान्धाः।
अनुमोदामस्तत्तत्तेषां सर्वात्मवाद धिया" ॥६५॥

नाना सिद्धान्तों एवं तत्प्रतिपादक आगमों और तर्कों में रागान्ध लोग जो भी कहते हैं, सर्वात्मवाद की बुद्धि से हम सबका ही अनुमोदन करते हैं। शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत्य आदि लोग अपने अपने सिद्धान्तों, आगमों, तर्कों में दृढ़ रागवान् हैं, अतः रागान्ध होने के कारण स्वपक्ष दोष एवं अन्य पक्ष के गुण प्रतीत ही नहीं होते, परन्तु सर्वात्मतावादी अद्वैती सबका अनुमोदन ही करता है क्योंकि सर्वात्मा भगवान् ही शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य, गणपति के रूप में उपास्य होते हैं। इतना ही क्यों कर्म, ईश्वर, पुरुष, प्रधान, परमाणु, शून्य, विज्ञान-सन्तान, सर्वानैकान्तस्वभावादि रूप में भी ब्रह्म ही परिलक्षित होता है। यही बात गौडपादाचार्य ने कही है।

"ख्याप्यमानामजातिं तैरनुमोदामहे वयम्।
विवदामो न तैः सार्धमविवादं निबोधत ॥"–(मा० का०)

परस्पर मदभेद के कारण एक दूसरे का खण्डनकर सभी वादी अजातवाद का ही रूपान्तर से समर्थन करते हैं। अजातवादी का अभीष्ट अजातवाद बिना विवाद अपने आप ही सिद्ध हो जाता है। श्री शङ्कराचार्य भी यही कहते हैं—

"वेदान्तैश्चाध्यात्मिक शास्त्रैश्च पुराणैः,
शास्त्रैश्चान्यैः सात्वततन्त्रैश्च यमीशम्।
दृष्टवन्तश्चेतसि बुद्ध्वा विविशुर्यम्,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥"

उपनिषदों, आध्यात्मिक शास्त्रों, पुराणों तथा अन्य सात्वततन्त्रों से जिस तत्त्व को जानकर ध्यानकर जिसमें प्रवेश करते हैं उस संसारध्वान्त विनाशक हरि का मैं स्तवन करता हूँ।

कहा जा सकता है कि मीमांसकादि, शैवादि ब्रह्मबुद्धि से तत्त्व को नहीं जानते, वे तो कर्म आदि रूप से जानते हैं फिर उन्हें तत्तत्फल कैसे मिलेगा ? किन्तु इसका समाधान निम्नोक्त है—

"सर्वाकारो भगवानुपास्यते येन येन भावेन।
तं तं भावं भूत्वा, चिन्तामणिवत्समभ्येति" ॥६६॥

भगवान् सर्वात्मा होने से सर्वाकार हैं अतः जिस जिस आकार से वे उपासित होते हैं, चिन्तामणि के तुल्य वे उसी उसी आकार को प्राप्त होकर तत्तत्फल प्रदान करते हैं, स्वतः निराकार ही रहते हैं।

"तं यथायथोपासते तदेव भवति" ॥ श्रु० ॥
"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" ॥गी०॥

जो जिस रूप से भगवान् को प्रपन्न होते हैं भगवान् उसी रूप से उसको भजते हैं।

"नारायणमात्मानं, ज्ञात्वा सर्गस्थिति प्रलय हेतुम्।
सर्वज्ञः सर्वगतः, सर्वः सर्वेश्वरो भवति" ॥६७॥

नारायण ब्रह्मात्मा ही विश्व की सृष्टि, स्थिति, संहार का मुख्य कारण है। जो गुरु, देवता भक्तिमान् प्राणी अत्यन्त आदर सत्कारपूर्वक निरन्तर उपासना कर उसका साक्षात्कार कर लेता है वह नारायणरूप हो जाता है, अतः वह सर्वज्ञ, सर्वगत, सर्वेश्वर हो जाता है।

ब्रह्म के साक्षात्कार से क्या होता है इस पर भगवान् शेष कहते हैं—

"आत्मज्ञस्तरति शुचं, यस्माद्विद्वान् बिभेति न कुतश्चित्।
मृत्योरपि मरणभयं, न भवत्यन्यत्कुतस्तस्य" ॥६८॥

आत्मज्ञ पुरुष सब शोक दुःख को पार कर जाता है। विद्वान् भगवान् को आत्मरूप से जानकर किसी से भी नहीं डरता। मृत्यु से मरने का भी डर उसे नहीं होता फिर अन्य भय किससे हो सकता है? वह ज्ञानी मृत्यु का भी मृत्यु हो जाता है। काल से सबको मरणभय होता है किन्तु ज्ञानी परकालरूप भगवान् ही हो जाता है, इसलिये उसे मरणभय नहीं होता, अन्य भय तो दूर ही है।

प्रकृति पुरुष का स्वरूप इससे स्पष्ट हो जाता है।

"क्षय वृद्धि, बध्य घातक, बन्धन मोक्षैर्विवर्जितं नित्यम्।
परमार्थतत्त्वमेतत्, यदतोऽन्यत् तदनृतं सर्वम्" ॥६९॥

वस्तुतः परमार्थतत्त्व क्षय, वृद्धि, वध्य, घातक, बन्ध, मोक्ष से विवर्जित है। इससे भिन्न सब अनृत ही है।

प्रकृति पुरुष का विवेक ज्ञानफल कहा जाता है—

"एवं प्रकृतिं पुरुषं, विज्ञाय निरस्त कल्पनाजालः।
आत्मारामः प्रशमं, समास्थितः केवलीभवति" ॥७०॥

इस प्रकार पुरुष को जानकर द्वैत भ्रान्तिमय प्रपञ्च का परित्यागकर, आत्मा में ही रमण करता हुआ स्वात्मा का ही अनुभव करता हुआ, प्रशम को प्राप्त होकर कैवल्य को प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न होता है कि इस तरह पुरुष के मुक्त होने पर उसके देह, इन्द्रिय, प्राण, बुद्धि आदि उसी समय नष्ट हो जाते हैं या कुछ काल की प्रतीक्षा करते हैं। इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं—

"नल कदलि वेणु वाणा, नश्यन्ति यथा स्वपुष्पमासाद्य।
तद्वत्स्वभावभूताः स्वभावतां प्राप्य नश्यन्ति" ॥ ७१ ॥

नल (नरकुल), कदली (केला), वेणु (बांस) और वाण ये सब अपने (पुष्प) कार्यसंपादन करके नष्ट हो जाते हैं। ठीक उसी तरह स्वभाव (प्रकृति) से उद्भूत देहादि स्वभावता अपने भावता को प्राप्त होकर अर्थात् अपना अपना कार्य जनन करके नष्ट हो जाते हैं। **'स्वेषां सम्बन्धिनो भावा विकारा फलानि तेषां भावः स्वभावता तां प्राप्य स्वकार्यं कृत्वा विनश्यन्ति'**। देहादि स्वसम्बन्धी फल भाव को प्राप्त करके नष्ट होते हैं फिर भी तत्काल न नष्ट होकर प्रारब्ध कर्मों की प्रतीक्षाकर प्रारब्धक्षय के अनन्तर नष्ट होते हैं। जैसे वाणवेग लक्ष्य भेदकर ही प्रशान्त होता है वैसे ही देहादि स्वसम्बन्धी सुख दुःखादि फल देकर ही नष्ट होते हैं। यही श्रुति कहती है—**'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये'—(छा०)**। ज्ञानी पुरुष की ब्रह्म सम्पत्ति में उतना ही विलम्ब है जब तक प्रारब्ध कर्म से छुटकारा नहीं मिलता। प्रारब्ध कर्म क्षय के अनन्तर ज्ञानी ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न होता है कि देहादिरूप प्रकृति को अनात्मरूप से त्यागकर कैवल्य को प्राप्त हुआ पुमान् किं रूप होता है। इसी का उत्तर देते हुए परमाचार्य कहते हैं—

"भिन्नेऽज्ञानग्रन्थौ, छिन्ने संशयगणे शुभे क्षीणे।
दग्धे च जन्म बीजे, परमात्ममानं हरिं याति" ॥७२॥

आत्मा के अज्ञान से बनी हुई अज्ञानग्रन्थि रूप देहादि अभिमान के प्रकृति पुरुष विभागज्ञान द्वारा नष्ट होने पर एवं देहादि व्यतिरिक्त आत्मा है

या नहीं, आत्मा ईश्वर रूप ही है या उससे भिन्न है, एक है या अनेक है, ईश्वर सर्वदेहियों में ही रहता है या कैलाश, वैकुण्ठ, क्षीर-सिन्धु, प्राची-प्रतीची, ऊर्ध्व अधः आदि दिशाओं में रहता है, इत्यादि संशयगण नष्ट हो जाते हैं। श्रुति ने कहा है—

'आत्मस्थमात्मनमजं न दृष्ट्वा,
भ्रमन्ति मूढा गिरि गह्वरेषु।
पश्चादुदग् दक्षिणतः पुरस्ता—
दधः स्विदासीदुपरिस्विदासीत्'॥

अपने में ही स्थित अज आत्मा को न जानकर मूढ आत्मा को ढूँढ़ने के लिये गिरि गह्वरों में भटकते हैं। पश्चिम, दक्षिण, पूर्व एवं ऊपर-नीचे उसे ढूँढ़ते हैं और आत्मतत्व के साक्षात् अपरोक्ष अनुभव हो जाने पर शुभाशुभ कर्म क्षीण हो जाते हैं। यहाँ शुभ से शुभाशुभ सभी कर्म विवक्षित हैं।

अज्ञानरूपी कारण तत्वज्ञान से नष्ट होता है तब तत्कार्य शुभाशुभ कर्मों का विलयन हो ही जाता है। अतएव पुनर्जन्म के बीज कर्म क्लेश आदि के दग्ध होने पर देही अपने परम आत्मस्वरूप हरि को ही प्राप्त हो जाता है। श्रुति कहती है–एक आत्मा ही यह सब कुछ था, उससे भिन्न स्वतंत्र सत्तावाली कुछ भी वस्तु नहीं थी। यह भी श्रुति ही कहती है—परावर ब्रह्म का दर्शन हो जाने पर हृदयग्रंथि भिन्न हो जाती है, सब संशय क्षीण हो जाते हैं और इस ज्ञानी के पूर्वकृत सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं; यही कैवल्य पद प्राप्ति है।

सन्देह होता है कि क्या मनुष्यदेह से पृथक् किसी अन्य देह को प्राप्त करके ज्ञानी मुक्त होता है या इसी देह से, और यहाँ ही मुक्त होता है या किसी देशान्तर को प्राप्त होकर मुक्त होता है। इसीका समाधान करते हुए भगवान् शेष कहते हैं—

**"मोक्षस्य नैव किञ्चिद्धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र।
अज्ञानमय ग्रन्थे, भेदो यस्तं विदुर्मोक्षम्"॥७३॥**

मोक्ष की उत्पत्ति का इस देह से अन्य कोई धाम (खास शरीर) नहीं, और न मोक्ष के लिये कहीं जाना पड़ता है। श्रुति कहती है—**'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुद्धयत् स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्'।**

देवों, मनुष्यों तथा ऋषियों में जो जो उस ब्रह्म को स्वात्मरूप से जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है। किन्तु बन्ध हेतुभूत अज्ञानमय ग्रन्थि का जो भेद (विनाश) है उसी को तत्वज्ञ लोग मोक्ष कहते हैं। उस मोक्ष की सिद्धि में तत्वज्ञान से भिन्न देहान्तर या देशान्तर कुछ भी अपेक्षित नहीं है।

चार्वाक आदि मरण को ही मोक्ष मानते हैं। परन्तु स्वनाशरूप मरण पुरुषार्थ नहीं हो सकता है। जैन सतत् ऊर्ध्व गमन को ही मोक्ष मानते हैं। सतत् अधोगमन के तुल्य वह भी प्रयासात्मक ही होने से पुरुषार्थ नहीं हो सकता। इसी तरह विशुद्ध विज्ञान सन्तान का उदय मोक्ष है। यह भी पक्ष ठीक नहीं क्योंकि मोक्ष साधनानुष्ठान करनेवाला विषयोपरक्त विज्ञान सन्तान है वह तो नष्ट ही हो जायगा। फिर मोक्षफल किसको होगा। इस तरह अकृताभ्यागम-कृत विप्रणाश दोष भी इस पक्ष में होगा। इसके अतिरिक्त विषयोपराग न रहने से भेदकाभावात् संतानरूपता भी नहीं सिद्ध होगी। प्रत्येक विज्ञान क्षण-भंगुर ही है फिर संतानोदय क्या होगा? इसी तरह सर्वशून्यता लाभ भी मोक्ष नहीं हो सकता है। यदि शून्य स्वप्रकाश है तब तो वह सद्रूप होने से शून्य नहीं रहा, यदि स्वप्रकाश नहीं है तो उसका साधक प्रमाण न होने से वह अनुपपन्न है।

नैयायिक कहते हैं बुद्धि आदि नव गुणों को त्यागकर जो आत्मा की स्थिति है वही मोक्ष है। परन्तु इस मत में पाषाणादि तुल्य जड़ताप्राप्तिरूप मोक्ष पुरुषार्थ नहीं हो सकता। जैसे परमेश्वर में इच्छा, ज्ञान, क्रियावत्ता होती है वैसे ही जीव में भी वह क्यों न होगी? निरीश्वर सांख्य के अनुसार प्रकृति-पुरुष विवेक ही मोक्ष है। परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि मोक्ष में प्रकृति का दर्शन होता ही नहीं, फिर विवेक क्या होगा? यदि उसका दर्शन हो तब तो पुनः बन्धप्राप्ति प्रसंग होगा। सेश्वरवादि सांख्य के अनुसार क्षेत्रज्ञ का ईश्वरसायुज्य ही मोक्ष है। परन्तु यह भी ठीक नहीं, जो प्रथम अनीश्वर था उसका ईश्वर होना यदि मोक्ष है तब तो कादाचित्क होने से नित्यता एवं पुरुषार्थता उसमें उपपन्न नहीं होती। अकृताभ्यागमादि दोष भी इस पक्ष में होंगे। आत्मा की स्वरूप से अवस्थिति मोक्ष है यह कर्म मीमांसकों का मत है। इस पक्ष में भी प्रथम स्वरूप से अनवस्थिति, मोक्ष में अवस्थिति होने से मोक्ष आगन्तुक ठहरेगा। यदि पहले भी स्वरूपस्थिति मान्य हो तब तो संसार दशा में कर्तव्यता का अभाव उपस्थित होगा। पाशुपत परमशिव साम्य ही

को मोक्ष कहते हैं। यहाँ विचारणीय है कि साम्य क्या है। यदि सर्वज्ञान क्रिया-शक्तिता ईश्वर जैसे जीव में आनी समता है, तो यह भी ठीक नहीं कारण सर्वात्मता हुए बिना सर्वज्ञान क्रिया शक्तिमत्ता सिद्ध नहीं होती। यदि सर्वात्मता भी जीवों में आ जाती हो तब तो परमशिवता ही जीवों में आ गयी, फिर समता कैसी। यदि कहा जाय कि आणव, मायिक, कार्मिक, मलशून्य होना ही समत्व है, तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि ज्ञातृत्वस्वभावता, भेदशून्यता, बन्धशून्यता बिना मलत्रयराहित्य संभव ही नहीं। यदि उक्त लक्षण जीव में मान्य है तब तो फिर वह भी परमेश्वर ही होगा, फिर समता असंगत ही होगी।

इसी तरह सात्वत लोग मानते हैं कि वासुदेवादि चतुर्व्यूह भगवान् का सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य प्राप्ति ही मोक्ष है। इस पक्ष में भी यही कहना है कि यदि सालोक्यादि प्रथम नहीं था तो अब उसका सत्व कैसे होगा। यदि पहले भी था तो उसकी सिद्धि के लिये प्रयास व्यर्थ है। भले व्यवहार दशा में उक्त पक्ष उपपन्न हो परन्तु परमार्थ दशा में तो ब्रह्मात्मैक्य साक्षात्कार से अज्ञान की उपशान्ति ही मोक्ष है। यही गीता कहती है—ज्ञान स्वरूप आत्मा अज्ञान से आवृत है। ज्ञान से जिसका अज्ञान नष्ट हो गया हो उन तत्पर साधकों के लिये आदित्य के तुल्य स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप आत्मा व्यक्त हो जाता है।

"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः" ।।–(गीता)

"ज्ञानेन तु तदज्ञानं, येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं, प्रकाशयति तत्परम्" ॥–(गीता)

"तद्बुद्धयस्तदात्मानस् तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूत कल्मषाः" ॥–(गीता)

इत्यादि वचनों के आधार पर अविद्यानिवृत्ति ही मोक्ष कहा गया है। विमत प्रपञ्च आत्मज्ञान से ही निवर्त्य है क्योंकि वह स्वाप्न गज के तुल्य अज्ञान का विलास ही है। फिर भी कहा जाता है कि अविद्यानिवृत्ति यदि सती है तब तो वह भी आत्मा के समान ही नित्य होगी, फिर वह साध्य कैसे होगी? यदि असती है तब तो वह ज्ञान का फल नहीं हो सकती। सद् असद् दोनों रूप है यह भी कहना संभव नहीं है क्योंकि सत् असत् का परस्पर विरोध होने से एकत्र अवस्थिति नहीं हो सकती। सदसद्विलक्षणा अविद्यानिवृत्ति है यह

कथन भी संगत नहीं है, क्योंकि वैसी तो अविद्या ही होती है और वह निवर्त्य होती है। इस तरह तो अविद्यानिवृत्ति रूप मोक्ष भी निवर्त्य ही ठहरेगा।

सदसदादि चतुष्कोटि विनिर्मुक्त अविद्यानिवृत्ति है यह कहा जाय तो वह शून्यरूप ही ठहरेगा। परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि वस्तुतः सत्प्रतियोगी असत् ही शून्य पदार्थ होता है। सदसद्विलक्षण अविद्याप्रतियोगिक जो अविद्यानिवृत्ति है वह तो पञ्चम ही प्रकार की है। सत्, असत्, सदसत्, सदसद्विलक्षण इन चारों से विलक्षण ही अविद्यानिवृत्ति है। यथार्थरूप से वीक्ष्यमाण अधिष्ठान से भिन्न मिथ्यावस्तु की निवृत्ति नहीं होती क्योंकि मिथ्यावस्तु के निषेध होने पर अधिष्ठान ही अवशिष्ट रहता है। अतः विद्यारूपा वृत्ति पर प्रतिबिम्बित होकर ब्रह्म ही स्वाध्यस्त सकार्या अविद्या का निवर्त्तक होता है। तत्स्वरूप ही अविद्या-निवृत्ति है। इसी लिये ज्ञातत्वोपलक्षित ब्रह्मात्मा ही अविद्यानिवृत्ति है—**'निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः'**।

फिर भी कहा जाता है जब प्रकृति से पुरुष अत्यन्त विलक्षण है तब तो सकार्या अविद्या पुरुष से पृथक् ही सिद्ध होती है। परन्तु यह ठीक नहीं है—

"बुद्ध्वैवमसत्यमिदं, विष्णोर्मायात्मकं जगद्रूपम्।
विगत द्वन्द्वोपाधिक, भोगासङ्गो भवेच्छान्तः" ॥७४॥

मायामय यह जगत् अधिष्ठानभूत परब्रह्म विष्णु का ही असत्य काल्पनिक रूप है। ऐसा जानकर सकारण देह दैहिक समस्त प्रपञ्च का अन्वय व्यतिरेकादि युक्तियों से बाध करके, आत्मा में ही सब कुछ अध्यस्त है ऐसा जानकर, देहादि निमित्त से होनेवाले भोगों के आसङ्ग (आसक्ति) को मिटाकर, आत्मा से भिन्न विश्व है ही नहीं अतः देहादि तन्निमित्त भोगासक्ति छोड़कर, आत्मा में ही सक्त (अनुरक्त) होकर शान्त हो जाता है—**'विगतः बाधितो द्वन्द्वोपाधिको भोगासङ्गो यस्य सः'**।

"नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका।
अनिर्वाच्या ततो ज्ञेया मिथ्याभूता सनातनी" ॥

इस बृहन्नारदीय वचन के आधार पर वेदान्ती माया को सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीया कहते हैं। कुछ वेदान्ती इसे अध्यास संस्कार रूप ही मानते हैं। उक्त वचन की संगति अपने पक्ष में वे भी लगाते हैं। व्यवहारकाल में माया सत्वेन प्रतीत होती है अतः केवल असद्रूप नहीं है। प्रतिक्षण परिणामरूप

से होनेवाली उसकी प्रतीति का बाध होता है और विशेष दर्शन से वह बाधित होती है। अतः वास्तव सद्रूप भी नहीं है। अतएव परस्पर विरुद्धत्वात् उभयरूप भी नहीं है। इसी लिये सत् ही है या असत् ही है ऐसे निर्धारित रूप से उसका निर्वचन नहीं हो सकता इसलिये अनिर्वचनीय है। प्रातिभासमात्र का विषय है अतः मिथ्या है। भ्रमपरम्परा की जननी है अतः सनातनी है। आरोपित सत्व एवं परमार्थतः असत्ववाले पदार्थ को ही अनिर्वचनीया माया कहा जाता है। अतएव कहा गया है—**यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्'**, प्रवाहरूप से नित्य है, यावत्संसार उसका सत्व मान्य ही है।

कहा जाता है कि न्याय दर्शन में **'बुद्धि सिद्धन्तु तदसत्'** इस सूत्र से भी यही कहा गया है कि चित्त से द्रव्यरूप वृत्ति नाम का जो परिणाम होता है वही इन्द्रिय प्रणाली से निकल विषय से संयुक्त होकर सूक्ष्मावस्थारूप विषय वासनावशात् तत्तद्विषयाकार से परिणत होता है। यह बात नहीं है कि उस वृत्ति में संयुक्त वाह्यविषय का प्रतिविम्ब पड़ता है क्योंकि स्वप्नादि में वाह्यविषयों का संयोग नहीं होता। अतः प्रतिविम्ब संभव नहीं होता। अतएव स्मृति कहती है—

"विप्र ! पृथिव्यादिचित्तस्थं न वहिस्थं कदाचन।
स्वप्नभ्रम मदाद्येषु सर्वै रेवानुभूयते" ॥

हे विप्र ! पृथिवी आदि सभी वस्तु चित्त में ही है बाहर नहीं क्योंकि स्वप्नादि में वाह्यविषय के बिना ही चित्त के भीतर ही सब वस्तु भासित होती है।

कहा जाता है सांख्य ने भी—**'नासतः ख्याति नृश्रृङ्गवत्, नानिर्वचनीय ख्यातिस्तदभावात्, नान्यथा ख्यातिः स्ववचो व्याघातात्'**, इन सूत्रों से कहा है कि असत् की ख्याति नहीं हो सकती है क्योंकि असत् नरश्रृङ्गादि की प्रतीति नहीं होती; अनिर्वचनीय की भी ख्याति नहीं होती क्योंकि अनिर्वचनीय कोई वस्तु होती ही नहीं; अन्यथा ख्याति भी नहीं होती क्योंकि अन्य की अन्य रूप में प्रतीति व्याहत है। कहा जाता है कि व्यास भगवान् भी माया पद से सदसत् ख्याति ही मानते हैं। सांख्यदूषित अनिर्वचनीय ख्याति व्यास सूत्रों से सिद्ध नहीं होती। यद्यपि श्रीहर्ष ने अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन किया है। उन्होंने कहा है—**'परकीयरीत्येदमुक्तम् अनिर्वचनीयत्वम् विश्वस्य पर्यवस्यति वस्तुतस्तु वयं सर्वप्रपञ्च सत्वासत्व व्यवस्थापन विनिवृत्ताः स्वतः**

सिद्धे चिदात्मनि ब्रह्मतत्वे केवले भरमवलम्ब्य चरितार्थाः सुखमास्महे ये तु स्व परिकल्पित साधन दूषण व्यवस्थया विचारमवतार्य तत्वं निर्णेतुमिच्छन्ति तान्प्रति ब्रूमः न साध्वीयं भवतां विचार व्यवस्था भवत्कल्पित व्यवस्थयैव व्याहतत्वात्।' खण्डन खण्डखाद्य की इस पंक्ति से यही सिद्ध होता है कि शुद्ध ब्रह्म में ही उनका तात्पर्य है। अनिर्वचनीयता सिद्धि उनका लक्ष्य नहीं है। जो लोग स्वकल्पित साधक बाधक तर्कों से पदार्थों का निर्वचन करना चाहते हैं उनकी स्वीकृत व्यवस्था से ही उनका पक्ष दूषित हो जाता है।

"ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथा तमः" ॥

बिना पदार्थ भी आत्मा में जो प्रतीत होता है और रहता हुआ भी अपने रूप में न प्रतीत हो, यही प्रतीति एवं अप्रतीति ही आत्मा की माया है। जैसे द्विचन्द्र रज्जु सर्पादि न होता हुआ प्रतीत होता है। जैसे राहु ग्रहमण्डल में रहता हुआ नहीं प्रतीत होता। इसी तरह अन्यान्य वचनों के भी अर्थ सदसत् ख्याति के अनुसार लगाये जाते हैं। अनिर्वचनीय ख्याति माननेवाले भ्रमोपादान रूप से एक सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय भावरूप अधिष्ठान ज्ञान से बाधित होनेवाले पदार्थ को ही माया, तम, अचित्, अज्ञान आदि नाम से व्यवहृत करते हैं। त्रिकालाबाध्य ब्रह्म सत् है; 'क्वचिदप्युपाधौ सत्वेन प्रतीयमानत्वानधिकरणत्वमसत्वम्' के अनुसार कहीं भी सद्रूप से न प्रतीयमान होनेवाला खपुष्प नरशृङ्गादि असत् है। माया एवं माया कार्य ब्रह्मवत् त्रिकालाबाध्य नहीं है तथा खपुष्पवत् अप्रतीयमान नहीं है। अतः सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय है। इस तरह तत्वान्यत्वाभ्यां निर्वक्तुमनर्हत्व (तत्व एवं अतत्व रूप से निर्वचन के अयोग्यत्व) रूप अनिर्वचनीयत्व से भिन्न सदसद्विलक्षणत्व रूप अनिर्वचनीयत्व भी वेदान्तशास्त्र को मान्य है। 'मृगतृष्णा जलादि न सत् नासत् नापि सदसत् विरोधादनिर्वाच्यमेव मरीचिषु तोयमास्थेयम्'। इन वाक्यों से वाचस्पति मिश्र ने सदसद्विलक्षणत्व रूप अनिर्वचनीयत्व माना है। अतएव श्रीनागेश ने मञ्जूषा में वाचस्पति मिश्र के मत का खण्डन करते हुए शाङ्कर भाष्य की पंक्तियों को ही अपने अनुकूल लगाया है। सांख्य न्याय सिद्धान्त के अनुसार वेदान्त की अनिर्वचनीयता का खण्डन वेदान्त की दृष्टि से अकिञ्चित्कर ही है। प्रत्युत, व्यासतात्पर्य निर्णय की दृष्टि से यही सिद्धान्त सिद्ध होता है कि सांख्य एवं न्याय के आचार्यों ने वेदान्त के जिस

सिद्धान्त का अनुवाद करके खण्डन किया है वही वेदान्त सिद्धान्त है। अनेक वेदान्तानुयायियों में किसकी व्याख्या व्यास तात्पर्यानुसारी है, इसका यही समाधान है कि व्यास के समकक्ष सांख्य आदि शास्त्रों के सर्वज्ञकल्प आचार्यों ने ठीक ठीक व्यास के मत का अनुवाद करके ही खण्डन किया है। अतः उनके द्वारा अनूदित मत ही व्यास मत समझा जाना चाहिये।

मुक्त पुरुष का देह अविद्या संस्कारवशात् कुछ काल तक जीवित रहता है, फिर भी उसे अनर्थप्राप्ति नहीं होती है।

"बुद्ध्वा विभक्तां प्रकृतिं पुरुषः संसारमध्यगो भवति।
निर्मुक्तः सर्वकर्मभिरम्बुजपत्रं यथा सलिलैः" ॥७५॥

देहादि रूप में परिणत अनृत जड़ दुःख संहतरूप प्रकृति को सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा से विभक्त अत्यन्त विलक्षण जानकर भी, अनात्म रूप से उसका त्याग करके परमात्म भाव को प्राप्त हुआ पुरुष, संसार में रहता हुआ देही जैसा प्रतीत होता हुआ भी, सर्व कर्मों से वैसे ही मुक्त होता है जैसे कमलपत्र पानी में रहता हुआ भी पानी से लिप्त नहीं होता है।

इस प्रकार जीवन्मुक्ति का निरूपण करके मुक्त पुरुष के यावज्जीवन रहने के ढङ्ग का निरूपण आचार्य करते हैं—

"अश्नन् यद्वा तद्वा संवीतो येन केनचिच्छान्तः।
यत्र क्वचन च शायी विमुच्यते सर्वभूतात्मा" ॥७६॥

मुक्त ज्ञानी पुरुष भगवदात्मभूत होकर सर्वभूतों का आत्मा हो जाता है। शान्त, संयमी रहकर श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ यथोपलब्ध अन्न का भक्षण करता हुआ, जैसे तैसे कषायादि मलिन वस्त्र या दिव्याम्बर धारण किये हुए, जहाँ कहीं प्रासाद या कुटीर में शय्या या भूमि म शयन करता हुआ जीवन्मुक्त सुख का अनुभव करता है।

"येन केनचिदाच्छन्नः येन केनचिदाशितः।
यत्र क्वचनशायी स्यादेतद्ब्राह्मण लक्षणम्" ॥

किसी प्रकार का शुभ या अशुभ कर्म करता हुआ भी वह जीवन्मुक्त लिप्त नहीं होता है।

"हयमेध सहस्राण्यप्यथ कुरुते ब्रह्मघात लक्षाणि।
परमार्थविन्न पुण्यैर्न च पापैः स्पृश्यते विमलः" ॥७७॥

परमार्थ ब्रह्म तत्व को जाननेवाला ज्ञानी अविद्या मलों से शून्य होता है। अतः चाहे सहस्रों अश्वमेधादि पुण्य करे, चाहे ब्रह्महत्यादि पाप करे, किसी पुण्य या पाप से वह स्पृष्ट नहीं होता है। अतएव—

"मद कोप हर्ष मत्सर विषाद भय परुष वर्ज्य वाग्बुद्धिः।
निःस्तोत्र वषट्कारो जडवद्विचरेदगाध मतिः" ॥७८॥

जिसके तल का स्पर्श नहीं होता उस अगाध अनन्तानन्द रूप ब्रह्म में आत्म बुद्धि होने के कारण ज्ञानी पुरुष जड़वत्, उन्मत्तवत्, पिशाचवत् विचरता है।

"बुद्धतत्वस्य लोकोऽयं जडोन्मत्तपिशाचवत्।
बुद्धतत्वश्च लोकानां जडोन्मत्तपिशाचवत्॥"-(वृ० वा०)

तत्वज्ञ की दृष्टि में लोक (संसार) जड़ोन्मत्त पिशाचवत् होता है। वैसा ही लोक की दृष्टि में तत्ववित् भी होता है। उस ज्ञानी में विद्वत्ता आदि का मद नहीं होता, उसके मन में शत्रु आदि के प्रति क्रोध नहीं होता। ईषणाभाव के कारण मानसोल्लास रूप हर्ष से भी वह वर्जित होता है। परोत्कर्षासहिष्णुता भी उसमें नहीं होती। अभीष्टसिद्धि न होने से होनेवाला विषाद तथा अनिष्टप्राप्ति से दैन्य, भय, निष्ठुरता आदि से वह रहित होता है। **'मद कोप हर्ष मत्सर विषाद भय परुषाणि वर्जयितुं शीलमस्येति मद कोप हर्ष मत्सर विषाद भय परुषवर्जी।'** अर्थात् वह मदादि दोषों से शून्य होता है। **'अवाचि मनोवचनातीते प्रणवे तदर्थे ब्रह्मात्मनि बुद्धिर्यस्य स अवाग्बुद्धिः'।** अर्थात् मनवचन से अतीत प्रणव एवं तदर्थ परब्रह्म में ही उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित होती है। वह न किसी की स्तुति करता है न किसी का वषट्कार (भजन पूजनादि) ही करता है।

"उत्पत्ति नाश वर्जितमेवं परमार्थमुपलभ्य।
कृतकृत्य सफलजन्मा सर्वगतस्तिष्ठति यथेष्टम्" ॥७६॥

इस तरह प्रकृति से पृथक् उत्पत्ति, नाशरहित परमार्थ आत्म स्वरूप का साक्षात्कार करके कृतकृत्य एवं सफलजन्मा होकर सर्वगत होकर यथेच्छ जीवन बिताता है। देह छूटने पर उसकी स्थिति कैसी होती है, किस प्रकार उसका देह-पात होता है, यह बताते हुए विदेह मुक्ति का वर्णन करते हैं—

"व्यापिनमभिन्नमित्थं सर्वात्मानं विधूत नानात्वम्।
निरुपम परमानन्दं यो वेद स तन्मयो भवति" ॥८०॥

इस प्रकार अद्वितीय निरुपम परमानन्दरूप व्यापी परम महान् आत्मा को अभिन्न रूप से जानकर ज्ञानी देहपात होने पर तद्रूप ही हो जाता है।

"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्
तथारसंनित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥"

यह श्रुति कहती है कि शब्द, स्पर्श रहित, अरस, अगंध, अव्यय, अनादि, अनन्त तथा महादादि प्रकृति से पर ध्रुव आत्मा को स्वात्मस्वरूप से जानकर प्राणी मृत्युमुख से छूटकर ब्रह्मरूप ही हो जाता है। ब्रह्म नानात्वरहित है, यह भी **'एकमेवाद्वितीयम्'** इत्यादि श्रुति कहती है। ब्रह्मस्वरूप आनन्द उपमा-रहित एवं निरतिशय है। यह भी श्रुति कहती है—**'एषोऽस्य परम आनन्दः एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।'** आत्मा ही परम आनन्द है। अन्य प्राणी इसी के अंश से आनन्दित होते हैं। व्यापी सर्वात्मा वासुदेव को अभिन्न रूप से ही जानना चाहिये। यह भी श्रुति कहती है—**'अथ योन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसावहमन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्॥'**–(बृ०)

जो भिन्न रूप से देवता की उपासना करता है वह तत्वज्ञ न होकर देवताओं का पशु होता है। 'एष ते आत्मा अमृतः' यह श्रुति अन्तर्यामी अभिन्न आत्म-स्वरूप से उपदेश करती है।

शङ्का होती है कि निर्विशेष परब्रह्म स्वरूप सर्वात्मा वासुदेव में श्रुतियों की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है। सबके बुद्धि, इन्द्रियादि के द्रष्टा एवं प्रेरक तथा अध्यक्ष को ही सर्वात्मा कहा जाता है। बुद्धि का द्रष्टा बुद्धि आदि का दृश्य नहीं हो सकता। जो अदृश्य अग्राह्य होता है वह वाणी का वाच्य भी नहीं होता है। प्रदीप से प्रकाशित घट प्रदीप का प्रकाशक नहीं हो सकता है। इसी तरह आत्मा के द्वारा प्रबोधित मन, वाणी, आत्मा का प्रकाशन नहीं कर सकते हैं। 'यतो वाचो निर्वतन्ते अप्राप्य मनसा सह' यह श्रुति भी यही बात कहती है।

मुख्य गौण भेद से शब्द की अर्थ में दो प्रकार से प्रवृत्ति होती है—रूढ़ि वृत्ति एवं योग वृत्ति मुख्या वृत्ति कही जाती है। वृद्ध व्यवहार

निमित्त संकेत से जो शब्द जिस अर्थ का बोधक होता है, उस शब्द की उस अर्थ में रूढ़ि वृत्ति कही जाती है, जैसे गो आदि शब्दों की गोत्वादि में प्रवृत्ति होती है। प्रकृति प्रत्यय आदि शब्द के अवयवों के व्युत्पादन के द्वारा जो शब्द स्वार्थ में प्रवृत्त होता है, उस शब्द की उस अर्थ में योग वृत्ति समझी जाती है, जैसे पंकजादि शब्दों की कमल आदि में यौगिक प्रवृत्ति है। पङ्क से उत्पन्न होने के कारण कमल को पङ्कज कहा जाता है। औपाधिकी प्रवृत्ति दो तरह की होती है। एक गौणी, दूसरी लक्षणा। वाच्यार्थ गुणों के योग से अर्थान्तर में प्रवृत्ति गौणी वृत्ति है। जैसे, सिंह शब्दार्थ मुख्य सिंह के क्रौर्य शौर्य आदि गुणों के योग से देवदत्त आदि मनुष्य में भी सिंह शब्द की प्रवृत्ति होती है। 'सिंहो देवदत्तः' यह गौणी वृत्ति का उदाहरण है। जहाँ शब्द के वाच्यार्थ के सम्बन्ध से अर्थान्तर में प्रवृत्ति होती है वहाँ लक्षणा वृत्ति समझनी चाहिये। दोनों ही वृत्तियों में वाच्यार्थ का बाध होता है और प्रयोजन-विशेष के कारण ही वाच्यार्थबाध करके लक्षणा का आश्रयण किया जाता है। सामान्यतया वाच्यार्थ संभव होने पर अर्थान्तर कल्पना अनुचित ही है। बिना प्रयोजन के वाच्यार्थ को बाधकर अर्थान्तर का आश्रयण बिना विशेष प्रयोजन के नहीं होता।

लक्षणा जहती, अजहती, जहदजहती तीन प्रकार की होती है। सर्वथा स्वार्थ को त्यागकर जहाँ शब्द अर्थान्तर का ही बोधन करता है वह जहती लक्षणा है, जैसे 'गङ्गायां घोषः'। यहाँ गङ्गा शब्द स्वसंबन्धी तीर का बोधक होता है। क्योंकि गङ्गा पद वाच्य भगीरथरथखातावच्छिन्न प्रवाह में घोष (आभीरपल्ली) नहीं रह सकता। जहाँ स्वार्थ का बिना त्याग किये ही तत्सम्बन्धी अर्थान्तर का बोधक शब्द होता है वहाँ अजहती लक्षणा होती है, जैसे 'शोणो धावति, कुन्ताः प्रविशन्ति'। उक्त स्थलों में शोण का केवल लाल रंग अर्थ न लेकर लाल रंगवाला घोड़ा अर्थ लिया जाता है। कुन्त का केवल भाला, बर्छी आदि ही अर्थ न लेकर भाला, बर्छीवाले यह अर्थ लिया जाता है। जहाँ स्वार्थ के कुछ अंश को छोड़कर किसी अंश का बोध कराया जाता है वहाँ जहदजहती या भागत्याग लक्षणा कही जाती है। जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' यहाँ तद इदं इन दोनों शब्दों के परोक्ष-अपरोक्ष, देश-काल रूप अर्थ को छोड़कर व्यक्तिमात्र का अभेद बोधित होता है। सभी स्थलों में अन्वया-नुपपत्ति एवं तत्पर्यानुपपत्ति लक्षणा के बीज होते हैं। घोष गंगा में नहीं हो सकता, लाल रंग दौड़ नहीं सकता, परोक्ष-अपरोक्ष, देशादि विशिष्ट व्यक्ति का

अभेद नहीं हो सकता। घोष का अर्थ मीन, मकरादि लिया जाय तो अन्वय हो सकता है परन्तु वक्ता का उसमें तात्पर्य नहीं है। ऐसे ही धावति का कुछ और अर्थ लिया जाय तो भी वक्ता के तात्पर्य से विपरीत होगा। सोऽयम् यहाँ पर भिन्न प्रवृत्ति निमित्तवाले समान विभक्ति के एकार्थनिष्ठ अनेक शब्दों का सामानाधिकरण्य होने से अभेद ही अर्थ विवक्षित होता है। इसी अर्थ में वक्ता का तात्पर्य है। उसकी उपपत्ति भागत्याग लक्षणा से ही संभव है।

कुछ लोग लाक्षणिक अर्थ को अमुख्यार्थ कहते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि क्या शक्यार्थ का बाध अमुख्यार्थता है या प्रतीयमान अर्थ का परित्याग करके अर्थान्तर ग्रहण अमुख्यार्थता है। प्रकृत में दोनों बातें संगत नहीं हैं क्योंकि भागत्याग लक्षणा में शक्यार्थ का सर्वथा परित्याग नहीं किया जाता और सामानाधिकरण्य से प्रतीयमान ऐक्य का त्याग नहीं किया जाता। वस्तुतस्तु तात्पर्यार्थ ही मुख्यार्थ है। वाच्यार्थ होते हुए भी तात्पर्यार्थ न होने से अमुख्यार्थ ही समझना चाहिये। डित्थःडवित्थः आदि शब्दों की स्वरूपनिर्देश द्वारा स्वार्थ में प्रवृत्ति होती है। ब्राह्मणः, गौः आदि शब्दों की ब्राह्मण आदि जाति को लेकर प्रवृत्ति होती है। धनी, गोमान आदि शब्द संबन्ध को लेकर प्रवृत्त होते हैं। ब्रह्म प्रत्यक्षगोचर न होने से निर्देश्य नहीं है। ब्रह्म एक होने से जातिरहित है। 'निर्गुणं, निष्क्रियं' श्रुति के अनुसार निर्गुण एवं निष्क्रिय है। 'असंगो नहि सज्जते' श्रुति के अनुसार संबन्धशून्य है। अतः शब्दों की मुख्या वृत्ति ब्रह्म में नहीं हो सकती। असंग होने से लक्ष्यमाण गुण का योग न होने से गौणी वृत्ति भी ब्रह्म में शब्द की नहीं हो सकती। शक्यार्थ संबन्ध से ही लक्षणा भी होती है अतः सर्वसम्बन्ध शून्य असंग ब्रह्म में लक्षणा भी संभव नहीं। अतः ब्रह्म में श्रुतियों की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है?

परन्तु इसका समाधान यह है कि परमार्थतः ब्रह्म यद्यपि निर्गुण, निष्क्रिय एवं असंग है तथापि अनादि, अनिवर्चनीय माया के कारण ब्रह्म में आध्यासिक गुण, क्रिया संबन्ध, सब संभव है। इस दृष्टि से ब्रह्म अनन्त कल्याण गुणोंवाला है। जगत् का उत्पादक, पालक, संहारक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भी है। ब्रह्म शब्द का शक्यार्थ सविशेष ब्रह्म है। उसका आध्यासिक सम्बन्ध निर्विशेष ब्रह्म से है। अतः लक्षणा से ब्रह्मादि शब्द निर्विशेष ब्रह्म के बोधक हो सकते हैं। इसी तरह लोक में अबाध्य वस्तु सत्य शब्द का वाच्य होती है। आकाशादि में वह अबाध्यता व्यावहारिक है। ब्रह्म में पारमार्थिक है। आकाशादि में

व्यवहारकाल में ही अबाध्यता है किन्तु अत्यन्त अबाध्यता नहीं है। क्योंकि तत्वज्ञान से उसका भी बाध्य होता है परन्तु ब्रह्म का कभी भी बाध नहीं होता। अतः अत्यन्ताबाध्य ब्रह्म ही है।

इस तरह आकाशादि विशिष्ट चैतन्य सत्य शब्द का वाच्य है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति का सत्य शब्द जहदजहती लक्षणा द्वारा आकाशादि वाह्य अंशों को छोड़कर अत्यन्तावाध्य चैतन्यमात्र का बोधक होगा। इसी तरह शुभ कर्मों से उपस्थापित विषयोपभोगजनित अनुकूल सुखाकार बुद्धिवृत्ति व्यवहारतः आनन्द शब्दार्थ है। परमार्थतः केवल चैतन्य ही आनन्द है। लौकिक आनन्दविशिष्ट चैतन्य आनन्द शब्द का वाच्य है। परन्तु 'विज्ञानमानंदं ब्रह्म' इस श्रुति में आनन्द शब्द बुद्धिवृत्ति रूप स्वार्थांश को छोड़कर बुद्धिवृत्ति रूप आनन्द के द्रष्टा चैतन्य को ही बोधन करता है। इसी तरह अनन्त शब्द का अपरिच्छिन्न वस्तु मुख्य अर्थ है। व्यवहारतः काल में देशकाल परिच्छेद नहीं होता, क्योंकि काल का काल नहीं होता और काल से अव्याप्त कोई देश भी नहीं है। ब्रह्म भी अपरिच्छिन्न है क्योंकि काल, देशादि सभी वस्तु दृश्य होने से तत्वतः असत् हैं अतः ब्रह्म के परिच्छेदक नहीं होते। अतः कालादि अनुगत ब्रह्म अनन्त शब्द का वाच्य है। कालादि को त्यागकर लक्षणा से अनन्त शब्द सर्वथा अपरिच्छिन्न ब्रह्म का बोधक होता है।

कहा जाता है कि इस प्रकार की लक्षणा लोक में अप्रसिद्ध है। परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि 'प्रकृष्ट प्रकाशश्चन्द्रः', 'पृथुबुध्नोदराकारो घटः' इत्यादि स्थलों में यह लक्षणा प्रसिद्ध है। यहाँ पर विशिष्ट अर्थ का बोध नहीं होता क्योंकि वहाँ इस ज्योतिर्मण्डल में चन्द्रमा कौन है? मृद्विकारों में घट कौन है? इन प्रश्नों के ही उक्त वाक्य उत्तर हैं। यहाँ प्रकृष्ट और प्रकाश्य तथा पृथुबुध्नोदर एवं आकार शब्दों से स्ववाच्यांश प्रकृष्टत्व, प्रकाशत्व आदि जाति का एवं पृथुत्व, बुध्नोदराकारत्व धर्म का त्याग करके प्रकृष्टप्रकाशरूप एक चन्द्र व्यक्ति तथा पृथुबुध्नोदराकारवाली घट व्यक्ति का बोध लक्षणा से ही होता है। उत्तर वाक्य में पृष्ट अर्थ का ही निरूपण होता है। पूछा जाय आम्र तो उसका उत्तर आम्र ही हो सकता है कोविदार नहीं, 'आम्रान्पृष्टः कोबिदारानाचष्टे'-पूछा आम बताया कोविदार। इसी तरह 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' ब्रह्म का साक्षात्कार करनेवाला परतत्व को प्राप्त कर लेता है। यह श्रवण करके ब्रह्म क्या है, ऐसी

जिज्ञासा होती है। उसी जिज्ञासा का उत्तर है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इसलिये सत्यं ज्ञानमनन्तं आदि पद ब्रह्मस्वरूपमात्र के बोधन में पर्यवसित होते हैं। यही न्याय, वेदान्त के अवान्तर वाक्यों में भी जिनके द्वारा तत् एवं त्वं पद के अर्थों का संशोधन होता है, लागू होता है। तत्त्वमसि आदि महावाक्यों में एवं सोऽयं देवदत्तः इत्यादि लौकिक वाक्यों में भी यही भागत्याग लक्षणा प्रवृत्त होती है। जैसे सोऽयम् इस वाक्य में तत् शब्द का अर्थ परोक्ष देशकालविशिष्ट देवदत्त वाच्य अर्थ है। अपरोक्ष देशकालविशिष्ट इदं शब्द का वाच्य अर्थ है। परन्तु इन विशिष्ट अर्थों को ग्रहण करने पर एकत्वबोधन नहीं हो सकता। क्योंकि विरुद्ध देशकाल विशिष्ट की एकता नहीं होती। अतः दोनों ही पदों के परोक्ष-अपरोक्ष, देशकाल वैशिष्ट्य का त्याग देवदत्तमात्र का बोध कराया जाता है, तभी दोनों पदार्थों का ऐक्य हो सकता है।

इसी तरह तत्त्वमसि वाक्य में तत् पद का सर्वज्ञत्वविशिष्ट ईश्वर चैतन्य अर्थ है। त्वं पद का अल्पज्ञत्वविशिष्ट जीव चैतन्य अर्थ है। यहाँ भी सर्वज्ञत्वविशिष्ट एवं अल्पज्ञत्वविशिष्ट चैतन्य की एकता नहीं हो सकती। अतः सर्वज्ञत्व, अल्पज्ञत्व आदि विरोधी विशेषणों को छोड़कर चैतन्य चैतन्य की एकता लक्षणा से बोधित होती है। इस तरह वेदान्तों की ब्रह्म में प्रवृत्ति होने से कोई बाधा नहीं है।

कहा जाता है कि जो वस्तु प्रमाणान्तर से अवगत होती है एवं तीरादि किसी शब्द का वाच्य होता है वही लक्ष्य भी होता है। ब्रह्म तो प्रमाणान्तरों से अवगत भी नहीं है तथा किसी शब्द का वाच्य भी नहीं है। फिर वह किसी शब्द का लक्ष्य कैसे होगा। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि सिद्धत्वमात्र लक्ष्यत्व का प्रयोजक होता है। वह सिद्धत्व चाहे स्वतः हो चाहे परतः, अतः ब्रह्म प्रमाणान्तर से अवगत न होने पर स्वप्रकाश होने से स्वतःसिद्ध है। सिद्धत्व होनेपर भी प्रमाणसिद्धत्व न होने के अपराध से लक्षणाभाव कहीं दृष्ट नहीं है। चिदेकरस ब्रह्म की सिद्धि में प्रमाण की अपेक्षा नहीं।

इसी तरह शब्दान्तरों का अवाच्य होने से भी लक्ष्यत्वाभाव नहीं कहा जा सकता है क्योंकि अवाच्य भी लक्ष्य होता ही है। इक्षुर्मधुरः, गुडो मधुरः, क्षीरं मधुरम् इत्यादि स्थलों में इक्षु आदि शब्द अवाच्य मधुर रस विशेष का ही बोधक होता है।

"इक्षुक्षीर गुडादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत् ।
तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते" ॥—(श्लो॰ वा॰)

कहा जाता है फिर भी सत्य, ज्ञान आदि पदों से क्या लक्ष्य है? परन्तु इसका उत्तर यही है कि जो पूछनेवाला और जो उत्तर देनेवाला और जो अन्य प्राणी उन सबके देहादिकों से अनवच्छिन्न चैतन्य है वही लक्ष्य है। यह चैतन्य इक्षुरसादि के समान स्वानुभवगम्य ही है। इदमित्थं रूप से उसका निरूपण नहीं हो सकता। इसलिये शब्द के द्वारा उसका निरूपण न होना कोई दूषण नहीं।

तत्ववित् विद्वान् का देहपात कहाँ और कैसे होता है। इस प्रश्न का भी उत्तर यही है कि—

"तीर्थे श्वपचगृहे वा, नष्टस्मृतिरपि परित्यजन् देहम् ।
ज्ञान समकाल मुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः" ॥८१॥

तत्ववित् ज्ञानोदय के समय ही मुक्त हो जाता है। शोक मोहातीत ज्ञानी जीवन दशा में भी मुक्त होता है। अतः जीवन्मुक्त कहा जाता है। विचार से ही वह पिण्ड को ब्रह्माण्ड में, ब्रह्माण्ड को पृथिवी में, पृथिवी को जल एवं जल को तेज में, तेज को वायु में, वायु को आकाश में, उसे तामस अहंतत्व में एवं प्राणों एवं एकादश इन्द्रियों को राजस अहंतत्व में, मन एवं इन्द्रियों के अधिष्ठात्री देवताओं को सात्विक अहंतत्व में लय करके त्रिविध अहङ्कार को महत्तत्व में, महत्तत्व को अव्यक्त में, अव्यक्त को अधिष्ठान पुरुष में, उसे परम पुरुष में प्रविलीन करके, चाहे गङ्गादि तीर्थ में, चाहे श्वपचादि गृह में, चाहे नष्टस्मृति (बेहोश) हो, चाहे प्रबुद्ध (सावधान) होकर देह त्याग करे तो भी कैवल्य पद को ही प्राप्त होता है। जहाँ जहाँ ज्ञानी मरता है, चाहे वह किसी मृत्यु से मरे तो भी, सर्वगत ब्रह्म को ही प्राप्त होता है।

"यत्र यत्र मृतो ज्ञानी येन वा केन मृत्युना।
यथा सर्वगतं ब्रह्म तत्र तत्र लयं गतः" ॥८१॥

कहा जाता है—'सितासिते सरितो यत्र संगते तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति' इस श्रुति के अनुसार यह प्रसिद्ध है कि गङ्गा, यमुना नदी का जहाँ संगम होता है वहाँ स्नान करनेवाले मुक्ति के भागी होते हैं। 'काश्यांमरणान्मुक्तिः' के अनुसार काशी में मरने से मुक्ति होती है। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि श्वपचगृह में देह त्याग करने पर भी ज्ञानी मुक्त ही होता है। इस पर आचार्य कहते हैं—

"पुण्याय तीर्थसेवा निरयाय श्वपचसदन निधन गतिः ।
पुण्यापुण्य कलङ्क स्पर्शाभावे तु किं तेन" ॥८२॥

तीर्थ स्नान, पानादि एवं वहाँ का मरण पुण्य का कारण होता है। वह सब साक्षात्मोक्ष का कारण नहीं। काशीमरण भी तत्वज्ञान का हेतु होकर ही परम्परा से मोक्ष का कारण होता है। साक्षात्मोक्ष का हेतु ब्रह्म साक्षात्कार ही है। 'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः' इस श्रुति के अनुसार अज्ञानमूलक बन्ध की निवृत्ति का तत्वज्ञान ही मुख्य कारण है। 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' यह श्रुति भी यही बात कहती है। यदि मोक्ष कर्मसाध्य होगा तो स्वयं ही उसमें अनित्यता होगी। इसी तरह श्वपचादि उपलक्षित निन्द्य स्थान में मरण नरकपातादि का हेतु होता है। परन्तु ज्ञानी में तो पुण्य पापरूप कलङ्क का स्पर्श ही नहीं होता है। फिर उन दोनों से ही उसको हानि लाभ सम्भव नहीं।

"नीरोग उपविष्टो वा रुग्णो वा विलुसन्भुवि ।
प्राणान्त्यजतु वा काश्यां श्वपचस्य गृहेऽथवा" ॥

अर्थात् ज्ञानी चाहे निरोग होकर, समाधि में बैठकर, चाहे रुग्ण होकर, भूमि में लोटता हुआ प्राणत्याग करे, चाहे काशी, चाहे श्वपच गृह में प्राण-त्याग करे, सर्वथा मुक्त ही होता है।

यद्यपि कहा जा सकता है कि—

"ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स जाति परमां गतिम् ॥"

के अनुसार प्रणवानुसन्धानपूर्वक भगवत्स्मरण से ही मुक्ति मानी गयी है। 'अधो गच्छंति' तामसाः के अनुसार तमो अभिभूत की अधोगति कही गयी है। इसका उत्तर देते हुए भगवान् शेष कहते हैं—

"वृक्षाग्राच्च्युतपादो यद्वदनिच्छन्नरः क्षितौ पतति ।
तद्वत् गुण पुरुषज्ञोऽनिच्छन्नपि केवलीभवति ॥८३॥

जैसे वृक्षाग्र पर चढ़ता हुआ कोई प्राणी न इच्छा होने पर भी भूमि में गिरता है, उसी तरह गुण एवं पुरुष का सम्यक् ज्ञानवान् ज्ञानी न चाहता हुआ भी देहपात के समय ब्रह्मलीन हो जाता है। ओमित्येकाक्षरमित्यादि भगवद् वाक्य उपासक एवं योगी के लिये हैं, ज्ञानी के लिये नहीं। इस तरह निष्काम ज्ञानी के ब्रह्मज्ञान का फल तत्काल मुक्ति है।

सकाम उपासना का फल क्रम मुक्ति है। हर दृष्टि से परमार्थ ब्रह्मतत्व की उपासना करनी ही चाहिये।

"परमार्थ मार्ग साधनमारभ्याप्राप्य योगमपि नाम।
सुरलोक भोग भोगी मुदितमना मोदते सुचिरम्" ॥८४॥

परमार्थ ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय ब्रह्मोपासना है। उसका आरम्भ करनेवाला भी ब्रह्मात्मैक्य साक्षात्कार प्राप्त किये बिना भी मरने पर इन्द्रादि लोकों के भोगों का भागी होकर मुदितमना होकर सुचिर काल तक मोदमान रहता है। तत्तल्लोकाधिपति भी उसके उपकारक ही होते हैं।

"विषयेषु सार्वभौमः सर्वजनैः पूज्यते यथा राजा।
भुवनेषु सर्वदेवै र्योगभ्रष्टस्तथा पूज्यः" ॥८५॥

जैसे सार्वभौम राजा अपने देशों में सभी जनों द्वारा पूज्य होता है, वैसे ही सभी भुवनों में सभी देवों द्वारा योगभ्रष्ट पूज्य होता है।

"महता कालेन महान् मानुष्यं प्राप्य योगमभ्यस्य।
प्राप्नोति दिव्यममृतं यत्तत्परमं पदं विष्णोः" ॥८६॥

महान् काल के अनन्तर दिव्य संस्कारों से सम्पन्न महापुरुष दुर्लभ मनुष्य जन्म प्राप्त करके, द्विपरार्ध पर्यन्त काल तक ब्रह्मलोक पर्यन्त महान् ब्रह्मोपासना का अभ्यास करके, दिव्य सूर्यमण्डल मध्यस्थ स्वप्रकाश चिद्रूप अमृत अति नश्वर विष्णु के परमपद को प्राप्त हो जाता है। श्रुति कहती है 'येन तेजसेद्धः सूर्यस्तपति' जिस तेज से दीप्त होकर सूर्य तपता है।

"यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्" ॥—(गी०)

आदित्यान्तर्गत जिस तेज से जगत् प्रकाशित होता है वह एवं चन्द्रमा तथा अग्नि में जो तेज है वह भगवान् का तेज है। वह तेज नित्योदित अनस्तमित रूप है। अमृतवत् आस्वाद्य एवं कार्यप्रवाह सहित प्रकृति का अधिष्ठान है, वही सब निषेधों की अवधि है। वही व्यापनशील, सर्वेश्वर, परम पुरुष पद "पद्यते गम्यते ज्ञायते च मुमुक्षुभिरिति पदम्" अर्थात् स्वरूप है। ज्ञानी उसी को अपना स्वरूप समझता है।

योगाभ्यास करनेवाला योगी योगभ्रष्ट होकर छिन्नाभ्र के तुल्य नष्ट तो नहीं हो जाता है? अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा कि हे

पार्थ ! उपासनापरायण का कभी भी विनाश नहीं होता किन्तु वह बहुत काल तक ब्रह्मलोक आदि दिव्य स्थानों में दिव्य फलों का उपभोग करके पवित्र श्रीमानों के यहाँ जन्म लेता है। अथवा ब्रह्मविद्वरिष्ठ वशिष्ठादि जैसे योगियों के यहाँ उसका जन्म होता है। फिर उसी पूर्वाभ्यास के अनुसार वह फिर उसी उपासना में लगकर तत्व 'साक्षात्कार करके कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। 'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते।'

"वेदान्त शास्त्रमखिलं विलोक्य शेषस्तु जगदाधारः।
आर्या पञ्चाशीत्या बबन्ध परमार्थसारमिदम्" ॥८७॥

जगत् के आधारभूत भगवान् अनन्त ने अखिल वेदान्तशास्त्र का आलोडन करके पचासी आर्या छन्द के रूप में इस 'परमार्थसार ग्रन्थ' का निर्माण किया है।

आत्मा, परमात्मा एवं जगत् का वास्तविक रूप क्या है? आत्मा, परमात्मा का ऐक्य है या अनैक्य? जगत् का परमेश सत्ता से पृथक् अस्तित्व है या नहीं? आत्मा असङ्ग, अनन्त एवं अकर्ता, अभोक्ता, एकरस है या कर्ता, भोक्ता आदि है? अहमर्थ सोपाधिक आत्मा है या निरुपाधिक शुद्ध आत्मा है, इत्यादि बातें श्रुति, स्मृति, तर्क एवं भगवान् शेष द्वारा बताये हुए परमार्थसार का विचार करने पर अनायास स्पष्ट हो जाती हैं।

———